शीराज़ा

हिन्दी



जनवरी–मार्च १९७८

४१

शीराज़ा

हिन्दी

प्रमुख सम्पादक :

मुहम्मद यूसुफ टेंग

सम्पादक :

रमेश मेहता

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू

अपनी बात

•

गत दस वर्षों में जम्मू-कश्मीर से प्रकाशित हिन्दी पुस्तकों का स्तर चाहे कितना भी ऊंचा क्यों न रहा हो, संख्या की दृष्टि से वे न्यून रही हैं। हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन की यह स्थिति बहुत से प्रश्नों को जन्म देती है यथा क्या जम्मू-कश्मीर के हिन्दी लेखकों की रचनाओं के प्रकाशन के लिए कोई उपयुक्त संस्थान काम कर रहा है ? यदि हां, तो वह अपनी कारगर भूमिका निभाने में क्यों असमर्थ रहा है ? यदि नहीं, तो जम्मू-कश्मीर के हिन्दी लेखकों ने ऐसे किसी संस्थान की स्थापना का प्रयास क्यों नहीं किया ? या फिर यह कि यहाँ के लेखक मात्रा की दृष्टि से क्या बहुत ही कम साहित्य रचते हैं अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि वे किसी विधा-विशेष पर अतिरिक्त ध्यान देते हैं जिसके फलस्वरूप आज मार्केट में जिस प्रकार की (साहित्यिक) पुस्तकों की खपत है, उस विधा की रचनाएं लिखने में वे असफल रहे हैं। इन प्रश्नों पर भी प्रश्न चिह्न लगाए जा सकते हैं किन्तु मेरा विचार है कि जब तक उपरोक्त प्रश्नों के उत्तरों से हम सीधा साक्षात्कार नहीं करेंगे तब तक जम्मू-कश्मीर में हिन्दी साहित्य की सेवा करते हुए उसकी श्रीवृद्धि करने के हमारे सभी दावे खोखले प्रमाणित होंगे।

इन मुद्दों को उठाने का मेरा मंतव्य केवल इतना है कि हम सब अपने भीतर झांक कर देखें जिससे हमें अपना कर्त्तव्य निश्चित करने में किसी भी प्रकार की दुविधा का सामना न करना पड़े। यह कहने से कि हिन्दी के बृहत्तर साहित्यिक-संसार के महारथियों ने इस अंचल के साहित्यकारों की उपेक्षा करते हुए उन्हें उचित स्तर पर मान्यता देने में कोताही की है हम अपनी कमजोरियों को स्वीकार करते से लगते हैं अतः आज आवश्यकता इस बात पर विचार करने की है कि हममें से कितने लेखकों ने अपनी अस्मिता की स्थापना के लिए ऐसा घनघोर संघर्ष किया है कि बाहर के लोगों का ध्यान बरबस हमारी ओर आकृष्ट हो सके। मुझे लगता है कि ऐसी किसी भी परीक्षा का सामना करने से हम आज तक प्रायः झिझकते ही रहे हैं। आज यह और भी आवश्यक हो चला है कि हम अपने दायित्व को पहचान कर अपनी भूमिका को उसके सही संदर्भों में निभाने का संकल्प करें।

•

१६७८ वर्ष के प्रारम्भिक तीन महीनों में जम्मू ने दो महान साहित्यिक व्यक्तित्वों को खोया है। ये हैं—हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि शंकर शर्मा 'पिपासु' तथा हिन्दी और पंजाबी की प्रसिद्ध कवयित्री सपन माला। इन दोनों ने अपने-अपने क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया था। अतः यह कहा जा सकता है कि इनके असामयिक निधन से जम्मू के साहित्यिक संसार की जो क्षति हुई है उसे किसी भी तरह पूरा नहीं किया जा सकेगा। शीराज़ा परिवार की ओर से हम इन दिवंगत आत्माओं को भाव भीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह इन्हें शान्ति प्रदान करे तथा इनके परिवारों, मित्रों, एवं पाठकों को इस शोक को सहन करने की क्षमता दे।

—रमेश मेहता

शीराज़ा हिन्दी के स्वामित्व एवं प्रकाशन सम्बन्धी विवरण

[फार्म-४ ; नियम-८]

१	प्रकाशन का स्थान	:	जम्मू तवी
२	प्रकाशन की अवधि	:	त्रैमासिक
३	मुद्रक का नाम	:	मुहम्मद यूसुफ़ टेंग
	क्या भारतीय नागरिक है ?	:	हां
	पता	:	सचिव, ज० क० कल्चरल अकादमी, जम्मू
४	प्रकाशक का नाम	:	मुहम्मद यूसुफ़ टेंग
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	सचिव, ज० क० कल्चरल अकादमी, जम्मू
५	सम्पादक का नाम	:	रमेश दत्त मेहता
	क्या भारतीय नागरिक है ?	:	हां
	पता	:	ज० क० कल्चरल अकादमी, जम्मू
६	उन व्यक्तियों के नाम एवं पते जो पत्र के स्वामी, भागीदार अथवा एक प्रतिशत से अधिक पूंजी के हिस्सेदार हैं	:	जम्मू एण्ड कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू

मैं, मुहम्मद यूसुफ़ टेंग, एतद् द्वारा यह घोषित करता हूं कि उपरिलिखित विवरण मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार सत्य है।

हस्ताक्षर/________________

(मुहम्मद यूसुफ़ टेंग)

सचिव, जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट,
कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, जम्मू

विशेष लेख

आधुनिक जापानी कविता

● डा० नरेन्द्र मोहन

जापानी साहित्य के इतिहास में आधुनिक चेतना और जागरूकता की पहली दस्तक सन् १८६८ में सुनाई पड़ी थी। इस वर्ष के आसपास प्रबुद्ध आधुनिक पीढ़ी के उदय के संकेत मिलने शुरू हुए थे। सम्राट मेजी ने अज्ञान के अंधेरे को दूर करने और ज्ञान के प्रकाश को फैलाने की शपथ इसी वर्ष ग्रहण की थी। इससे पूर्व के ५-६ वर्षों के संक्रमण-काल में नये और पुराने के बीच टकराहट रही थी जिससे कविता और चिन्तन के क्षेत्रों में—अतीत तथा परम्परा को नये युगीन संदर्भों में देखने और व्याख्यायित करने की दृष्टि विकसित हो रही थी। इससे नया साहित्यिक वातावरण बनने में सहायता मिली। ओकुमा कोतोमिशि का १८५७ में दिया गया यह वक्तव्य, कि साहित्यिक परम्परा से तालमेल बैठाए रखते हुए, रूढ़ियों का खंडन हो और समय की चेतना की अभिव्यक्ति हो, इस नये वातावरण का ही प्रतिफल था। सन् १८६८ के आसपास, जापानी कविता में, ऐतिहासिक दबावों से जो नये परिवर्तन घटित हुए, उन्हें इन संक्रमणशील स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में रखकर समझा जा सकता है।

हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग के प्रारंभ के समय कविता की जो स्थिति थी, लगभग वैसी ही स्थिति जापानी साहित्य में आधुनिक कविता के प्रारंभ के समय थी। आधुनिक चेतना के स्वरूप और भाषा के आधार पर युग-जीवन के प्रति जैसी जागरूकता हिन्दी की भारतेन्दु-कालीन कविता में दिखती है, कुछ वैसी ही जागरूकता सन् १८६८ के आसपास जापानी कविता और कविता संबंधी चिन्तन में दिखायी देती है। यह सही है कि काव्य-भाषा में उतनी तेजी से बदलाव नहीं आया जितना कि काव्य-चेतना और वस्तु में। आधुनिक काल के प्रारंभ हो जाने

के बावजूद जापानी कविता की भाषा एक हजार वर्ष पुरानी भाषा बनी रही, जिसमें इस दौरान 'तांका' की रचना भी हुई। ठीक उसी प्रकार जैसे भारतेन्दुकालीन कविता आधुनिक स्थितियों और समस्याओं के प्रति जागरूकता के बावजूद अधिकतर ब्रजभाषा में रची गई।

आधुनिक जापानी कविता के प्रथम चरण में कविता की वस्तु में नयी उद्भावनाएं करने और वस्तु को नये रूप में परिकल्पित करने की छूट जरूर ली गई, पर इसके समानान्तर भाषा में परिवर्तन नहीं हुआ। दसवीं शताब्दी की भाषा १९वीं शताब्दी में भी चलती रही और उसे मान्यता और प्रतिष्ठा मिलती रही। हां, बतौर काव्य-भाषा के चीनी भाषा का दबदबा जरूर कम हुआ। सन् १८६८ से पूर्व जापानी कविता पर चीनी भाषा, साहित्य और संस्कृति का गहरा प्रभाव था, पर १८६८ के बाद यह प्रभाव धीरे-धीरे कम होता गया और जापानी कविता पश्चिमी कविता के प्रभाव में आनी शुरू हुई। चीनी भाषा और रूपाकारों के अनुकरण की वजह से जापानी कविता में अभिव्यक्ति की सामर्थ्य चुक गयी थी और वह रूढ़िबद्ध हो चुकी थी। आधुनिक युग के प्रारंभ होने के साथ-साथ जापानी कविता में, काव्योपयुक्तता की दृष्टि से, चीनी भाषा की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी। जापानी कवियों को नये अनुभवों के योग्य रूप-विधान और भाषा की तलाश थी जिससे वे काव्यगत रूढ़ियों से मुक्ति पा सकते। चीनी भाषा की अपेक्षा जापानी भाषा में काव्य रचना की प्रवृत्ति इसी तलाश का हिस्सा थी।

आधुनिक जापानी कविता के प्रथम चरण में कला-नियमों की पाबन्दी भी पहले जैसी नहीं रही। विषयवस्तु के चयन संबंधी दृष्टि थोड़ी उदार हुई, पर भाषा की शास्त्रीयता के कारण यह दृष्टि कोई दूरगामी प्रभाव न छोड़ सकी। इससे काव्य-धारणा में परिवर्तन न हो सका। इसीलिए १९वीं शताब्दी की जापानी कविताओं में नयी परिस्थितियों की हलचलों की छाप तो है, पर यह इतनी गहरी नहीं है कि आधुनिक वस्तु और स्थिति या भाषिक संरचना में परिवर्तन संभव हो पाता।

परम्परा के चटख रंगों में रंगे हुए जापानी कविता के चेहरे को नयी स्थितियों के अनुकूल ढालने के लिए पश्चिमी रचनाओं का अनुवाद जरूरी था जिससे कि नये युग की आकांक्षाओं, समस्याओं और अन्तर्विरोधों को वाणी मिल पाती। इस ढंग का पहला संकलन "नयी शैली की कविताए" शिन्ताइशी-शो के नाम से सन् १८८२ में प्रकाशित हुआ। इसमें संकलनकर्ताओं की पांच कविताओं के अतिरिक्त, कुछेक अंग्रेजी और अमरीकी कविताओं और एक फ्रेंच कविता के अनुवाद शामिल हैं। आधुनिक जापानी कविता के संदर्भ में इस संकलन की विशिष्ट भूमिका स्वीकार की गई और इस पर काफी टीका-टिप्पणी हुई। इस संकलन से जापानी कविता-संसार को व्यापक और विस्तृत बनाने में सहायता मिली। इस ढंग के अन्य कई संकलन भी इस बीच प्रकाशित हुए। ऐसे संकलनों के प्रति जापानी कवियों और प्रबुद्ध पाठकों की अभिरुचि इनमें अन्तर्निहित काव्यगुणों के कारण तो थी ही,

एक रूढ़ और सुनिश्चित काव्य-मुहावरे और सुनिश्चित रूप-विधान से मुक्ति पाने की इच्छा से भी थी।

आधुनिक जापानी कविता का पहला कविता-संग्रह युआसा हांगेत्सु का "बारह प्रस्तर मुद्राएं" (जूनी जो इशीजूका) है जो सन् १८८५ में प्रकाशित हुआ। परम्परागत वस्तु और मुहावरे के बावजूद इस संग्रह में नये उदित ज्ञान क्षितिजों से सम्बद्ध कविताएं हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण कविता-संग्रह, शिमाज़ाकी तोसोन का "अंकुर" (वाकाना-शू) है जो १८९७ में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में ५१ कविताएं हैं जिनमें यौवन और प्रेम के गीत हैं। तोसोन ने संग्रह प्रकाशित हो जाने के कुछ वर्ष बाद समकालीन काव्यस्थिति का जायज़ा लेते हुए लिखा था: "युवा कल्पना एक युग पुरानी तंद्रा से जाग उठी है और इसने आम आदमी की भाषा का लिबास पहन लिया है। परम्पराओं को फिर से नये-ताजा रंग प्राप्त हुए हैं।" वास्तव में आधुनिक युग (सन् १८६८) के प्रारंभ होने के पच्चीस वर्ष बाद यानी १८९३ के आसपास जापानी कविता में आधुनिक संवेदना प्रतिफलित होनी शुरू हुई। ओवादा तातेकी ने सन् १८९३ में एक स्थल पर लिखा: "हमारे साहित्यिक संसार में एक नये तरह के जलवायु की बाढ़ आने ही वाली है। दरारें पैदा हो चुकी हैं जिनमें से यह प्रवेश पा रही है। ···अपनी परम्पराओं को छोड़ देना और उनकी (विदेशी कविता की) परम्पराओं को संपूर्ण रूप से ग्रहण कर लेना गलत होगा। पर, अगर हम उनकी परम्पराओं को अपनी परम्पराओं में मिला लें तो हम अपने साहित्यिक क्षितिज को अधिक चौड़ा और व्यापक बना सकेंगे।" जापानी कविता में आधुनिक युग चेतना की अभिव्यक्ति का यह एक बुनियादी द्वन्द्व था— एक ओर जापानी काव्य-परम्पराएं तो दूसरी ओर विदेशी काव्य-धाराएं जापानी कवि-मन को आप्लावित कर रही थीं। आधुनिक जापानी कविता के पहले चरण में इसी द्वन्द्व को अभिव्यक्ति मिली है।

योरुप की कविता के माध्यम से जापानी कविता परम्परागत रूढ़ियों से, विशेषत: चीनी भाषा के दबावों से मुक्त हुई और उसमें आधुनिक अनुभूतियों और विचारों को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य पैदा हुई। चूंकि ये अनुवाद शाब्दिक न होकर भावानुवाद थे, इसलिए इनमें पर्याप्त सर्जनात्मकता थी— बिम्ब-विधान तो जापानी था ही। इस दृष्टि से जापानी कविता कथ्य, भाषा और शिल्प की दृष्टि से समृद्ध हुई। जापानी कविता पर सबसे पहला जबरदस्त प्रभाव फ्रांस की प्रतीकवादी कविता का पड़ा। उएदा बिन ने सन् १९०५ में फ्रांस के प्रतीकवादी कवियों की कविताओं के जापानी भाषा में अनुवाद किये। प्रतीकवादी रचना प्रवृत्ति के प्रति जापानी कवियों का झुकाव जापानी कविता की दो स्वभावगत विशेषताओं—श्लेष और व्यंजना के कारण है। जापान में फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन के लोकप्रिय होने का मूलभूत आधार यही है कि यह जापानी कविता के चरित्र और प्रकृति के अनुरूप है। २०वीं शताब्दी के पहले तीन दशकों में फ्रांस की प्रतीकवादी कविता जापानी कविता पर छायी रही, यद्यपि अंग्रेजी कविता, विशेषत: इलियट की कविता, का प्रभाव भी

इस बीच पड़ना शुरू हो गया था। नागाई काफू ने फ्रेंच कविताओं का जापानी अनुवाद "मूंगे" (सांगोशी) शीर्षक से सन् १९१३ में किया था और होरीगुची दाइगाकु ने मौलिक कविताएं लिखने के साथ-साथ फ्रेंच कविताओं के अनुवादों का एक संकलन सन् १९२४ में प्रकाशित किया था। इन अनुवादों द्वारा जापानी कविता के मिजाज़ में परिवर्तन हुआ, उसका एक नया संस्कार हुआ।

आधुनिक जापानी कविता का प्रथम महत्वपूर्ण कवि इशिकावा ताकुबोकु (१८८५-१९१२) है, इसकी एक कविता 'मुक्का' उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती है :

अमीर दोस्त ने तरस दिखाया
ताकतवर ने ताना दिया
तो मैंने क्रोध में भरकर मुक्का बांध लिया
तभी अपनी बौराई आत्मा की दरार में
मैंने देखी वह आत्मा
जो क्रोध में पागल नहीं थी
जो झुकी हुई, टिमटिमाती, दीन और अपराधी थी
दुर्दशाग्रस्त !
वह तकलीफ
तुम किसको मारोगे
इस अभागे मुक्के से
अपने दोस्त को ? अपने को ?
या अपनी ओर के अबोध स्तम्भ को ?

ताकुबोकु की मानवीय अन्तर्द्वन्द्व की इस ढंग की कविताएं आधुनिक जापानी कविता में उन्हें एक विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं, तांका, वाका और हाइकू आदि काव्य-रूपों में तो उनका योगदान अप्रतिम है ही।

आधुनिक जापानी कविता को एक विशिष्ट मुहावरा देने वालों में हागीवारा साकुतारो (सन् १८८६-१९४२) का विशेष महत्व है। उनके काव्यात्मक प्रयोगों से साहित्यिक जापानी भाषा बोलचाल की भाषा के समीप आ गई। जापानी कविता को वयस्क बनाने में हागीवारा की मुख्य भूमिका रही है। बीसवीं शताब्दी के जापानी की जटिल द्वन्द्वग्रस्त मनःस्थिति को इन कविताओं में देखा जा सकता है। एक ओर पश्चिमी सभ्यता और साहित्य के दबाव, दूसरी ओर अपनी सभ्यता और संस्कृति का संसार—इनसे मानसिक तनाव और टकराव की जो स्थितियां जन्मीं, उनका प्रतीकात्मक चित्रण हागीवारा की कविताओं में मिलता है। उनकी एक कविता है **'बिल्ली की लाश'**, जो इस प्रकार है :

स्पंज जैसा दृश्य

नमी से हल्का-सा उभरा हुआ।
मनुष्य या पशु का कोई चिह्न नहीं दिखता
रहट चल रहा है
एक वृक्ष की धुँधली छाया में
मैंने देखा एक सौम्य महिला को इन्तजार करते
अपने चारों ओर लपेटे हुए झीनी शाल
घसीटती हुई प्यारे कुहरिल वस्त्रों को
धीमे-धीमे चल रही आत्मा की तरह
आह, यूरा, अकेली औरत
'तुम हमेशा देर करते हो, क्या नहीं ?'
हमारा न अतीत है न भविष्य
हम असलियत से टूटकर मुरझाए पड़े हैं
यूरा !
यहां एक भयानक परिदृश्य में
डूबी हुई बिल्ली की लाश दफन है !

हागीवारा की यह कविता इस बात का प्रमाण है कि अपने समय में चल रहे यथार्थवादी काव्यान्दोलन में उसकी कोई रुचि नहीं थी। वह कविता में रूपवाद का पक्षपाती था। उसका कविता के चरम और आत्यंतिक मूल्यों में विश्वास था।

हागीवारा के पश्चात् उनकी काव्य-धारणाओं का पोषण करने वाले, कविता के एक नये स्कूल 'चार ऋतुएं' का प्रवर्तन 'शीकी' नामक पत्रिका से हुआ, जिसके संपादन के मुख्य प्रेरणा-स्रोत और आधार-स्तम्भ—हागीवारा के शिष्य मियोशी तात्सूजी थे। नाकाहारा चूया (१६०७-१६३७) इस स्कूल के विवादास्पद कवि थे। उनकी कविताएं अपने समय की निराशा, हताशा, घुटन और थकन को अभिव्यक्त करती हैं। उनकी दो कविताएं 'मौत का क्षण' और 'व्याघ-पतंग' देखी जा सकती हैं :

मौत का क्षण

शरत्कालीन आकाश का रंग फीका
एक काले घोड़े की आंखों की चमक
पानी जल गया है। लिली झड़ गयी है
और हृदय रिक्त
देवताओं के बिना, सहायता के बिना
मर गयी एक औरत। खिड़की के पास
सफेद आकाश अंधा पड़ा था
सफेद हवा ठंडी !

व्याध-पतंग

पूरी तरह से साफ़-सुथरे शरत्कालीन आकाश में
एक व्याध-पतंग उड़ रही है
खाली मैदान में खड़ा हूं
पीली रोशनी में भीगा हुआ
सुदूर फैक्ट्री की चिमनी का धुआं
संध्या की धुंधली रोशनी में मेरी आंखों में घिरता है
एक आह भरता हुआ
मैं झुकता हूं और एक पत्थर उठा लेता हूं
मैं पत्थर का ठंडापन महसूसता हूं जब
अपने हाथ में गर्माता हुआ
तो इसे छूट जाने देता हूं
और अब घास में भीगा पड़ा है यह
चमकता हुआ रोशनी में निढाल स्वच्छ धुला हुआ,
निर्जीव घास सिर झुकाए है
धरती की ओर चेतन संज्ञा में
सुदूर फैक्ट्री की चिमनी का धुआं
संध्या की धुंधली रोशनी में घिरता है मेरी आंखों में।

नाकाहारा की ये दोनों कविताएं आधुनिक व्यक्ति की निराशा, हताशा और घुटन को अभिव्यक्त करती हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि उनकी कविताओं पर रिम्बो का बहुत प्रभाव है। इसीलिए उन्हें 'जापानी रिम्बो' कहा जाता है।

प्रगतिशील आन्दोलन और 'ऋतुएं' स्कूल के कवियों से अलग एक विशिष्ट कवि-व्यक्तित्व कुसानो शिम्पे का है जिनका जन्म सन् १९०२ में हुआ। वे जापानी कविता में ध्वनिमूलक कविता के प्रवर्तक हैं। जापानी भाषा में ध्वनियों को पकड़ने की जो अद्भुत क्षमता है,उसका कुसानो ने अपनी कविताओं में बड़े कलात्मक और प्रभावी ढंग से विधान किया है।

तीसरे दशक की जापानी कविता 'सुर्रियलिज़्म' की विशेषताओं से युक्त है। यथार्थ के बजाय फेंटेसी में रुचि बढ़ी और शुद्ध कविता की धारणा सामने आई। इससे कुछ 'अवांगार्द' कवि भी प्रकाश में आए, जिनमें से मुख्य हैं कितोसोनो कात्सुए। उनकी एक कविता देखिए :

कांच घर में लड़का
सुदूर चांद
सफेद फूल
सफेद

एक सफेद इमारत
सफेद।
गुलाबी नारी
सफेद सुदूर दृश्य
नीला आकाश
सफेद तड़का
सुदूर आकाश
हाइसिन्थ
खिड़की
सफेद दृश्य

जापानी कविता की यह सुर्रियलिस्ट प्रवृत्ति तीसरे दशक में प्रारंभ होकर सन् १९४१ तक एक विशेष काव्य-प्रवृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित रही। यह वह पीढ़ी थी जिसने बेकारी और भुखमरी को भोगा था और नैतिक मूल्यों को अन्तिम सांसें लेते देखा था। इन युवा कवियों ने रिक्तता और निरर्थकता की संवेदना को अभिव्यक्त किया और मानव मूल्यों की खोज के संबंध में अपनी चिन्ता व्यक्त की। इन का ग्रुप 'दी वेस्ट लैंड' (आरीची) पत्रिका से जुड़ा था। इन कवियों ने रिक्तता और निरर्थकता की संवेदना को अभिव्यक्त किया और मानव-मूल्यों की खोज के संबंध में अपनी चिन्ता व्यक्त की। इन कवियों में अग्रणी हैं तामूरा र्यूइची, जिनका जन्म १९२३ में हुआ था। उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में रिक्तता की विशिष्ट रूप में व्यंजना हुई है :

'नन्हे पक्षी क्यों गाते हैं'
मेरे एक मित्र ने प्रेस क्लब बार में
इस अमरीकी कविता से मुझे परिचित कराया
'लोग क्यों चलते हैं' यह है अगली पंक्ति
हमने बीयर पी
हमने पनीर-पकौड़े खाये
कोने की एक मेज पर बैठ कर
एक अधेड़ अंग्रेज ने पाइप सुलगाया
उसकी पत्नी देवता और दैत्य संबंधी एक उपन्यास में डूबी थी
बीस सितम्बर के बाद
इसकी उम्र की आस्थाहीन रातें ठंडक से भर जाती हैं
हम तंग रहस्यमय गलियों में धीरे-धीरे चलते रहे
और तोक्यो स्टेशन पर अलग हो गए
'नन्हें पक्षी क्यों गाते हैं ?'
मैं जाग उठा सपने से गहरे अंधेरे में

विह्वल
बहुत ऊंचाई से किसी चीज को गिरता देख
तब एक बार फिर सपने में कूद पड़ा
अगली पंक्ति पढ़ने की खातिर !

इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक जापानी कविता पर फ्रांस के प्रतीकवाद और 'सुर्रियलिज्म' का गहरा प्रभाव पड़ा है। इनसे जापानी कविता में एक नई धारा, एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ है। इससे कविता की भाषाई संरचना में भी परिवर्तन हुआ, अनुभूति के नये पहलू उभर कर सामने आए और इससे शिल्प-विधान और रूप-विधान में भी बदलाव आया। अभिव्यक्ति की नयी संभावनाओं की खोज इसी से संभव हुई। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि जापानी कविता विदेशी-यूरोपीय काव्य-धाराओं और परम्पराओं का अनुकरण मात्र है। वास्तव में, विदेशी प्रभाव ग्रहण करते हुए भी, जापानी कवियों ने अपने युग-जीवन को अभिव्यक्त किया है और उनका बिम्ब विधान पूरी तरह जापानी है। ताकामुरा कोतारो ने पाश्चात्य कविता के प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी, पाश्चात्य कविता के अनुकरण के आरोप का, काव्यात्मक शैली में, खंडन किया है और जापानी कविता की बुनियादी प्रकृति को रेखांकित किया है। पंक्तियां इस प्रकार हैं :

मेरी कविता पाश्चात्य कविता का हिस्सा नहीं
ये दोनों एक दूसरे की परिस्थितियों को छूती हैं
पर हू-ब-हू मिलती नहीं
पाश्चात्य काव्य संसार के प्रति मेरा भाव-भीना अनुराग है
पर कविता मेरी रूपायित है भिन्न रूप में
एथेन्स की हवा और ईसायत के भूमिगत फव्वारे ने
सींचा है मेरी विचार-विधि और भाषा को
यह मेरे हृदय को छूती है अपनी असीम सुन्दरता और शक्ति से
लेकिन इसका शब्द-विधान, सूजी, पनीर, पसलियों की बोटियां
मेरी भाषा की जरूरतों के विरुद्ध हैं
मेरी भाषा मेरी अन्तड़ियों की उपज है
सुदूर पूर्व की अन्तिम सीमाओं से परे जन्मी है
चावल और माल्ट और सोयाबीन और मछली के मांस से पली है
पाश्चात्य कविता मेरी प्रिय पड़ोसी है
पर मेरी कविता का लश्कर भिन्न रास्ते से गुजरता है।

आधुनिक जापानी कविता पाश्चात्य कविता का अनुकरण नहीं है, भले ही इस कविता पर पाश्चात्य प्रभाव (बड़ा) स्पष्ट है। आधुनिक काल में परम्परागत जापानी काव्य-परिपाटियों और रूपाकारों का पुनः संस्कार और पुनरुद्धार भी यह स्पष्ट कर देता है कि जापानी कवि

जातीय संस्कारों और काव्य परम्पराओं से भी अपने को सम्बद्ध रखे हुए हैं। यह एक तथ्य है कि इस बीच तांका, वाका और हाइकू जैसी परम्परागत जापानी शैलियों में भी कविता रची जाती रही। ताकुबोकु और शीकी ने तांका, वाका और हाइकू की संरचना में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। ताकुबोकु ने आधुनिक शैली की उत्कृष्ट कविताएं तो लिखी ही हैं, पर उनकी प्रसिद्धि तांका के कारण विशेष रूप से है :

सफेद रेत पर
एक छोटे द्वीप के तट पर
पूर्वी समुद्र में
आंसुओं से धुला मुंह लिए मैं
खेल रहा हूं एक केकड़े से

ताकुबोकु ने तांका को अनुभव के एक नये क्षेत्र से जोड़ दिया और इसीलिए उनके तांका पाठकों को बेहद प्रभावित करते रहे :

मेरी बहन करुणार्द्र हो उठी
मेरी आंखों को जलता देख
अनमापी
ज्ञान की पिपासा से
उसने सोचा मैं प्यार करने लगा

शीकी का तांका के प्रति झुकाव इसलिए था कि वह मानता था कि तांका जापानी काव्य-प्रकृति के एक विशिष्ट गुण 'लघुता' को समाहित किए हुए हैं। शीकी की तांका कविता का एक उदाहरण इस प्रकार है :

धुआं घूमता हुआ चक्राकार
खिली हुई टहनियों में से
फेंस के बाहर
ट्रेन गुजर जाते
एक दहाड़ के साथ

इस तरह 'वाका' शैली में भी ताकुबोकु ने रचना की है। कुछेक उदाहरण देखे जा सकते हैं :

कोई रास्ता नहीं है लौट पाने का
चौदहवें साल के बसन्त में
जब मैं अपना नाम फुसफुसाता हुआ
रो पड़ता था



खाली घर में प्रवेश करते हुए एक बार
सिगरेट सुलगाई मैंने
सिर्फ इसलिए कि
अकेला रहना चाहता था

●

प्यार करता हूं किसी से
इस आशंका से मेरी बहन ने हमदर्दी से हाथ रखा मेरी आंख पर
जो जल रही थी
ज्ञान की अबुझ प्यास से

हाइकू जापानी कविता का बहुत पुराना रूप-विधान है। १८वीं शताब्दी में बाशो और इस्सा हाइकू के दो मुख्य स्तम्भ माने जाते थे। बाशो का एक हाइकू इस प्रकार है :

ग्रीष्म ऋतु की घास
यही कुछ बचा है
योद्धाओं के सपनों का

कोबायासी इस्सा के हाइकू के दो उदाहरण देखिए :

नन्हीं चिड़िया
रास्ते से परे हो जाओ
एक घोड़ा आ रहा है इस ओर

बीसवीं शताब्दी में, नये युग के आगमन के साथ हाइकू के कथ्य और बनावट में परिवर्तन हुआ, उसका आन्तरिक स्वभाव और रूप बदला। शीकी के हाइकू इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं :

मेरा कवि-हृदय सूख गया है
मैं अपने रोगी शरीर को
बिस्तर में सहलाता हूं

●

एक चिचिण्डा पुष्पित हो रहा है
जबकि मरता हुआ आदमी
कफ़ में ग्रसित निरुद्वेग पड़ा है

हाइकू आज भी जापान में लिखे जा रहे हैं और पत्रिकाओं में खूब छपते भी हैं। लोग इन्हें चाव से पढ़ते हैं, पर यह आज के जापानी कवि की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं रहे हैं। प्रबुद्ध पाठकों के लिए भी इस विधा का आकर्षण समाप्त हो चुका है। आज के जीवन की जटिलता, तनाव और हताशा को अभिव्यक्त करने के लिए यह परम्परागत

जापानी माध्यम अपर्याप्त सिद्ध हो चुका है। आज की जटिल काव्य संवेदना को हाइकू जैसे रूप-विधान में संयोजित करना कठिन तो है ही, इसमें कृत्रिमता का खतरा भी कम नहीं है। आज की जापानी कविता पुराने परम्परागत रूपाकारों को ही नहीं, बद्धमूल संवेदन-वृत्तों को भी तोड़ रही है। विदेशी काव्य-धाराओं के प्रति अधिक ग्रहणशील रहने के कारण इस कविता का अपना चेहरा धुंधला चुका है। आज की जापानी कविता अपने इस चेहरे या चरित्र की खोज में प्रयत्नशील है और अपनी पहचान पाने में जुटी है।



दो नवगीत

सन्नाटा और बढ़ा.....

● सूर्यभानु गुप्त

एक चमचमाता चाकू
अपनी मूठ तक
सीने में सुबह के उतर गया।
सन्नाटा और बढ़ा...
आहिस्ता-आहिस्ता
घंटियां बजाता हाथी कोई
रस्ते से गुजर गया।

दिन ऊँटों से लम्बे हो गए
धूप का मिजाज ना मिला,
पंख लगे गर्द के
शुरू हुआ
ऊबभरा एक सिलसिला,

शाम तलक के लिए
मेरा क़स्बा,
जीते-जी मर गया,
सन्नाटा और बढ़ा...

सूरज सर पर बैठा
हो गईं, टीन की छतें
जलता तवा,
अफ़वाहें फैलाती हुई
भागी जो गलियों में हवा,
उड़कर आए सूखे पत्तों से
सारा आंगन
घर का भर गया।
सन्नाटा और बढ़ा···



खाली स्थान भरे कौन ?

अनुत्तरित प्रश्न-पत्र चेहरों के
खाली स्थान भरे कौन ?
बस्ती से श्मशान तक
भीड़-भाड़
धक्कम-धुक्का,
पीठों पर सभी की सवार
तुरुप का इक्का,
पान के गुलाम,
हुकुम की रानी,
टंगे हैं हवाओं पर मौन।
जली हुई आंखों के नीचे हैं,
दूर-दूर तक
सियाह दाग़,
काश ! हाथ लग जाता
कहीं अलादीन का चिराग़।
सारे व्यक्तित्व आध-पौन,
दर्द मीर का,
कबीर की बानी,
किसको फ़ुर्सत, समझे कौन ?
खाली स्थान भरे···



एक वक्तव्य और तीन कविताएं

● रतन लाल शांत

कविता से बढ़कर कवि का कोई वक्तव्य नहीं होता, पर जब कविता ही कविता का विषय हो जाए तो कविता वक्तव्य बन जाती है।

●

ऐसी स्थिति में कवि या तो अपनी सर्जन प्रक्रिया बताने लगता है या किन्ही विशेष प्रेरणाओं को समझने की कोशिश। यूं भी कह सकते हैं कि कवि अपने व्यक्तित्व को खुद थाहने लगता है।

●

कविता यों भी अपने को थाहने का सब से बड़ा साधन है, कवि के पास। अपनी पहचान का सब से बड़ा अस्त्र। जभी तो कवि अपनी कविता के क्षणों में स्वयं को अपने ही सामने नग्न और निर्वसन पाता है। कविता, इस दृष्टि से, कवि की ईमानदारी की सब से बड़ी कसौटी होती है। वह अपने को अन्यत्र छल सकता है, कविता-क्षणों में नहीं। यहां तो उसकी कमज़ोरियां और सामर्थ्य खुल कर सामने आ जाते हैं।

●

औरों को सुनाना, समझाना बताना, या जिसे संप्रेषित करना कहते हैं, कविता की प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग है। अपने लिए लिख भर लेना भी पाठक या श्रोता की उपस्थिति के अस्तित्व से इनकार नहीं। आप चाहते हों या नहीं, आप की कविता आप से अलग होकर केवल आप की नहीं रह जाती।

यह विरोध की स्थिति नहीं। पाठक की उपस्थिति कवि को अनुकूलित नहीं करनी चाहिए। यदि करे तो कविता ईमानदार नहीं रह सकती। रचना तब कृत्रिम हो जाती है। कृत्रिमता कविता की सब से बड़ी शत्रु है। वस्तुतः पाठक की उपस्थिति का आभास, कवि को और बोल्ड, अधिक स्पष्टवादी, तथा आत्मालोचक बनाने में सहायक होना चाहिए।

●

मैं कहानी भी लिखता हूं। नाटक, निबंध आदि की रचना भी करता हूं पर कविता में ही अनुभूति के घनत्व का सब से बड़ा साक्षात्कार होता है। यहां तो केवल मैं होता हूं और मेरी अनुभूति-स्थिति होती है। चरित्र भी मैं ही, भाषा भी मैं ही, वक्ता भी मैं ही और शैली भी मैं ही।

कभी आत्मनिरीक्षण की भी वेला आती है। अपने प्रश्नों के उत्तर देने की भी घड़ी आती है।

इन कविताओं को आप जो चाहें, समझ सकते हैं।

●

वक्तव्य : एक

दोस्त !
इस राह से आते आते
इतना तो कर जाओ
बुझते अंगारों को जैसे लोहे से
मुझे थोड़ा छेड़ तो जाओ
कुछ देर जी लूंगा।

भूल एक नशा है
उसी में डूब जाता हूं
जब खुद से ऊब जाता हूं

दोस्त, कहीं कोई घटना नहीं घटती ?
कुछ तो सुना जाओ
मैं मन ही मन उसे बुन लूंगा
दुहराऊंगा, तिहराऊंगा
घुमाऊंगा दायरों में—

बार बार बार
फिर दायरों में, चक्रवातों में पड़े तिनकों सा
घूम घूम आसमानों पर डोलूंगा
कुछ देर जी लूंगा।

रोशनी की उम्मीद में
कुहरे को पलकों से झाड़ने की
कोशिश-कोशिश कर रहा हूं;
पलकें गल जाएंगी
फिर आंखें गल जाएंगी
तो धूप कौन देखेगा ?

तुम अपनी धूप के साक्षी होगे
वे अपनी,
मेरी धूप किस के लिए कुहरा बेधेगी ?
किसके लिए चमकेगी ?

मुझे छेड़ तो जाओ,
दोस्त !
कुछ देर जी लूंगा।

❖

वक्तव्य : दो

बिछुड़े बंधुओ !
तुम्हारा दोषी मैं हूं।
मैंने तुम्हें समय पर जीवन नहीं दिया,
तुम होठों के तट आए
करते रहे इंतज़ार
कलम की नोक से कूदने को बेक़रार,
पर मेरी भौंहों पर बल देखकर सिमट गए,
मेरी अन्यमनस्क आंख देखकर सकुच गए।

तुम्हारा होना सदा अनुभवता हूं
मेरी हर सोच के साथ हो
मेरे हर कथ्य की सांस हो
मेरी हर बात की सकत हो
मेरे हर बिंब का भाव हो।

तुम्हें तुम्हारा रूप दे न सकूंगा
पर मेरे हर रूप में तुम झांकोगे।

तुम्हारी बात का दर्द गहरा था
क्योंकि वह जो एक चेहरा था

उसके साक्षी सिर्फ तुम थे ।
तुम्हारी साफ और तेज़ बात अप्रिय थी
इसलिए अब प्रिय क्षणों में
उसे फिर ताज़ा करना चाहता हूं ।
आओ बंधुओ, आओ !
बिछुड़े बंधुओ !



वक्तव्य : तीन

चलो नहीं दुहराऊंगा यह 'पश्चिमी मुहावरा'—
कि 'ज़िन्दगी अभिशाप है ।'
पर अपने मन से गढ़ा यह मुहावरा तो कहूंगा ही
कि ज़िन्दगी एक अति संवेदक सुई से खिंचा
एक अस्थिर ग्राफ है ।
यह सुई तो खुद अपने दिल की धड़कनों से
चंचल हो उठती है/फिर यह ज़िद
कि इसी से तूफानी समुद्र की करनी है माप
तो सुई फ्रेम तोड़ कर बाहर आएगी
सुई चलती रहेगी/ग्राफ हवा में खिंचता रहेगा
और तुम यह कह कर हंसोगे—
कि मैं धरती को नहीं जानता
मिट्टी के रंग-रोग आहें-कराहें नहीं पहचानता ।
समुद्र तूफानी ही रहेगा,/मिट्टी भी लावे से तपी तपी ही—
इतना जानता हूं ।
पर तुम भी जानो—
कि मेरी ज़िन्दगी कम संवेदक नहीं होगी
इसलिए/चूंकि तुम मौसम की भयानक तब्दीलियां रोक नहीं सकते,
मैं ज़िन्दगी को क्यों करूं नियमित ?
हवा में ही सही, कल्पना फबेगी मेरी
हवा में ही सही, मुट्ठियां भिड़ेंगी मेरी
हवा में ही सही, आंकड़े उबर आएंगे
हवा में ही सही, तार बंधेंगे मेरे
हवा में ही सही, झूले पड़ेंगे मेरे
तुम को हवा की माप करनी ही पड़ेगी ।

दो कविताएं

स्वावलम्बन

● डॉ० आदर्श

हमारे पांव
ढूंढ लेंगे खुद अपना रास्ता
गलती तुम्हारी नहीं
हर पीढ़ी आने वाले को
अबोध अनजान समझती है
चाहती है—
बतलाना हर कदम का वजन
जो जिन्दगी कि राहों पर रखने हैं
नहीं समझते
उन रास्तों की जमीन अब बदल गई है
उस पर चलने के
हमारे अपने कुछ अन्दाज होंगे
यह जरूरी नहीं कि हम भी
उन्ही मोड़ों पर घूम जायें
जहां से उन्हें डर था
और वह बच कर निकल आये थे
मेरी अपनी राय में

जरूरत है उन्हीं मोड़ों पर ठहरने की
यह जानने की
आखिर वहां इतनी फिसलन क्यों है
या वहां से आगे का रास्ता बन्द क्यों है
या वहां पर कांटे बिछे हैं
तो यह किसकी बत्तमीजी है
माफ करना मेरे बुजुर्गवार
हम तुम्हारी तरह नहीं सोच सकते
केवल अपने लिये !
हमें नहीं चाहिये वह रहस्य
जो हमें इस चक्रव्यूह से बाहर कर देगा
अभी हमें हर योद्धा का हाल पूछना है
अब अभिमन्यु नादान नहीं है
उसे विषम परिस्थितियों से
बचना नहीं, जूझना है।



वातावरण

हम अपरिचित ही रहे
आस-पास से, अपने आप से।
नपुंसक नारों में
आस्थायें बह गईं
नजरें हटीं भूखे भविष्य से
सामने बस कुर्सियां ही रह गईं
खद्दरी मन भरे नहीं
खून की प्यास से
हम अपरिचित ही रहे
आस-पास से, अपने आप से।

बदल लिये मूल्य
सच्चाई, ईमानदारी ने
बगुले से बना लिये भेस
हर पौधे ने, क्यारी ने
फूलों की आशा में

हाय ! रोपे थे बीज कितनी आस से
हम अपरिचित ही रहे
आस-पास से, अपने आप से ।

जाने कहां थे हम
जब सब कुछ हो गया
उड़ते मन ने जाने क्या देखा
पंख समेटे, और चुप हो गया
टुकुर-टुकुर रहा देखता
चारों ओर अविश्वास से
हम अपरिचित ही रहे
आस-पास से, अपने आप से ।

❖❖❖❖

साहित्य में इतिहास-बोध

● रामदेव आचार्य

समसामयिक घटना-चक्र से जो केन्द्रीय मूल्य-संवेदना उभरती है, वही साहित्य का इतिहास-बोध है। हर युग में जो विशिष्ट घटनाएं घटती हैं, उनका संवेदनात्मक व्यक्तित्व कुछ मानव-मूल्यों की संरचना करता है। ये मानव-मूल्य ही उस काल-विशेष के इतिहास-बोध के प्रतिनिधि प्रतीक होते हैं। युग सन्दर्भों और समय-सत्यों की मूल्यगत पहचान सौन्दर्य-शास्त्रीय परिवेश में इतिहास-बोध की संज्ञा से रेखांकित की जा सकती है। युग की धड़कन के प्रति जागरूक रहकर काल-प्रवाह के सत्यों की मूल्यगत पहचान रखना ही इतिहास-बोध की आंतरिकता समझना है। सामयिक घटनाओं की मूल्य-सत्ता के प्रति प्रतिबद्धता का निर्वाह करने से लेखक की कृतियों में इतिहास-बोध की अंतर्ध्वनियां स्वतः ही मुखरित हो उठती हैं।

ऐसे भी साहित्यकार होते हैं, जो किसी काल-विशेष में रचनात्मक सन्दर्भ जुटाते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि काल-सापेक्ष न होकर शाश्वत, चिरकालिक और व्यापक हो जाती है। ऐसे रचनाकार समय की सीमा का अतिक्रमण पर जाते हैं, और अपनी दृष्टि-विपुलता के कारण अद्वितीयता की चरम उपलब्धि तक जा पहुंचते हैं। चंद असमर्थ रचनाकार भी समय-सापेक्ष नहीं रहते, पर उनकी दृष्टि इतनी धूमिल, रूढ़िग्रस्त तथा सतही रहती है कि वे न तो अपने काल-विशेष के इतिहास-बोध से साक्षात्कार कर पाते हैं, न अपने काल की युग-संवेदनाओं का अतिक्रमण कर चिरंतन मानव-मूल्यों की सृष्टि ही कर पाते हैं। ऐसे लेखकों का कृती-व्यक्तित्व औसत साहित्यिक क्षमता से भी लघु स्तर का रह जाता है।

किसी भी कारण से लेखक के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसकी कृतियां युग-सत्य की ऐतिहासिक संवेदना का सम्प्रेषण करें ही। यह भी संभव है कि लेखक केवल अपने कला-परिवेश के प्रति ही उत्तरदायी रहें, तथा सौन्दर्य और अभिव्यक्ति की कला-प्रतिभा के अनावरण में ही अभिरुचि का प्रदर्शन करें। यह तय है कि ऐसे रचनाकार या तो यथार्थवादी कला-स्थापनाओं से, किसी-न-किसी कारण-वश (सामाजिक, नैतिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक) कतराते हैं, या फिर उनकी मानसिकता का प्राकृतिक विकास ही ऐसा होता है कि उनका अंतः-कलाकार काल-प्रश्नों की ऐतिहासिक प्रक्रिया से सम्पृक्ति पाने का अभिलाषी नहीं रहता।

इतिहास-बोध से परिचिति अथवा कला-प्रियता रचनात्मक स्तरीयता का सौन्दर्यशास्त्रीय प्रतिमान नहीं। यह परिचिति या प्रियता केवल रचनाकार की दृष्टि का संकेत देती है। जीवन की धड़कन से प्रतिबद्ध रहने वाला लेखक इतिहास-बोध से अस्पर्शित नहीं रह पाता। उसकी कृति में काल-संवेदना एक दार्शनिक मूल्य के रूप में प्रस्फुटित होती है। ऐसी स्थिति में उसका इतिहास-बोध व्यापक रचनात्मक दृष्टि पाकर शाश्वत एवं चिरकालिक बन जाता है। ऐसा भी संभव है कि शाश्वत मूल्यों की प्रस्तुति करने का अभिनय करने वाला साहित्य, संवेदना और कला की रिक्तता के कारण, धूमिलता और औसत संवेदना का निर्यात ही कर पाये। दूसरी ओर यह भी संभव है कि काल-सत्य की ऐतिहासिकता अंकित करने वाला साहित्य भी अपने स्वस्थ मानव-मूल्यों के कारण, चिरकालिक अजरता का उत्तराधिकारी प्रमाणित हो जाये।

विश्व-साहित्य के पृष्ठों का अध्ययन इस निष्कर्ष तक पहुंचाता है कि सार्वकालिक और सामयिक— दोनों तरह के रचनाकार अपनी दृष्टि की व्यापकता से अद्वितीयता प्राप्त कर लेते हैं। होमर, कालिदास, चॉसर, शेक्सपियर, तुलसी, कबीर, सूर और रवीन्द्र शाश्वत मानव-मूल्यों के द्रष्टा थे। वे इतिहास-बोध से यदा-कदा प्रभावित भी हुए, पर उनकी सम-सामयिकता अनायास ही थी। वह उनकी आत्मा की अनिवार्यता नहीं थी। इन सार्वकालिक स्रष्टाओं की रचनात्मक उपलब्धियों पर बहस करने की कोई संभावना नहीं। दूसरी ओर मिल्टन, शरत, प्रेमचन्द, मैक्सिम गोर्की, पाब्लो नरूदा, सार्त्र, कामू, काफ्का, टी० एस० इलिएट और यशपाल अपनी कृतियों से इतिहास-बोध की संवेदना का निर्यात करते रहे, पर अपनी दृष्टि की विपुलता के कारण वे भी अमरत्व की उपलब्धि तक पहुंच गये।

आंचलिक संस्कृति के प्रामाणिक चितेरे फणीश्वरनाथ रेणु ने भारतीय ग्रामवासियों के विभिन्न वर्गों की मानसिकता का समसामयिक, यथार्थवादी चित्रण करके ग्राम्य-जीवन-प्रसंगों की ऐतिहासिकता स्थापित की। इसी प्रकार श्रीलाल शुक्ल ने स्वातंत्र्योत्तर ग्राम्य-जीवन के सांस्कृतिक ह्रास का रूपक 'राग-दरबारी' में रचकर देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और वर्ग-गत विषमता का ऐतिहासिक दस्तावेज़ तैयार किया। यशपाल की कृतियों में भी सामाजिकता, राजनीति और विषम अर्थतंत्र का यथार्थवादी इतिहास-बोध उभरता है।

नागार्जुन के उपन्यासों में वर्ग-विभेद के मानव-रूपकों के माध्यम से इतिहास-बोध की मौलिक आकृति उभरती है।

दूसरी ओर अज्ञेय और मोहन राकेश कला के प्रति अतिरिक्त अनुराग से प्रेरित रहे। शमशेर बहादुरसिंह चाहे अपनी चिंतन-दृष्टि से कितने ही प्रगतिशील क्यों न रहे हों, पर अपने बिम्ब-विधान में वे अत्यधिक कलात्मकता के आग्रही ही रहे हैं। इनकी कृतियों में इतिहास-बोध के अनायास स्वर सुनायी पड़ सकते हैं, पर उनकी सचेतन रचनात्मकता सिलसिलेवार इतिहास-बोध की पक्षधर कभी नहीं रही। धर्मवीर भारती, अपनी काव्य-कृतियों और कथा-सन्दर्भों में इतिहास-यातना के सन्दर्भ उजागर करते हैं, पर जहां-जहां उनकी आत्मा का ओज उभरा है, वहां-वहां रूमानी संस्कृति की चरम परिणति रूपांकित हुई है।

रचनात्मक इतिहास-बोध में सिलसिलेवार क्रमबद्धता होती है। अनायास उभरा इतिहास-बोध बिखराव और विशृंखलन का अहसास ही जगाता है। विशृंखलित इतिहास-बोध हर समकालीन लेखक की रचना में तलाशा जा सकता है, क्योंकि रचनाकार असम्पृक्त रहने के चाहे कितने ही उपाय करे, अंततोगत्वा समय की कोई प्रभावी ध्वनि उसे झकझोर देती है, और ऐतिहासिक काल-सत्य की रचना में उसे संलग्न कर देती है।

क्रम-बद्ध इतिहास-बोध रचनाकार की अंतश्चेतना की छटपटाहट में समाहित रहता है। वह सतत और अहर्निश होता है। रचनाकार उससे विलग हो ही नहीं पाता। अतः इतिहास-बोध उसकी रचनात्मक मानसिकता का अभिन्न पहलू बन जाता है।

इतिहास-बोध की उपलब्धि घटना-संचयन या तथ्य-संकलन से नहीं होती। विवरणों और ब्यौरों से इतिहास तो लिखा जा सकता है, पर रचनात्मक इतिहास-बोध की सृष्टि नहीं की जा सकती। घटना या तथ्य रचना नहीं बनते। घटना की निर्ममता या प्रियता की संवेदना ही रचनात्मक स्तर प्राप्त कर पाती है। संवेदना की यह रूपाकृति कलात्मक होने के कारण इतिहास-बोध का व्यक्तित्व प्राप्त कर लेती है। घटना को केन्द्र में रखकर घटना से प्राप्त मानव-मूल्य की संवेदना को जो आकृति दी जाती है, वह सृजनात्मक स्वरूप पाकर ऐतिहासिक हो जाती है। संक्षेप में इतिहास-बोध का अर्थ ऐतिहासिक घटना को निरूपित करना नहीं है, बल्कि घटना की ऐतिहासिक मूल्य-संवेदना को रूपायित करना है। अतः रचना में इतिहास-बोध की अनुभूति इतिहास की संवेदनात्मक, रागात्मक तथा आवेगात्मक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है। इसी अर्थ में उपन्यास "राग-दरबारी" तात्कालिक राजनीति के भ्रष्ट चरित्र को, ग्रामीण मानसिकता के विभिन्न वर्गों और आचरणों में, क्रम-बद्ध कर पाया है। इसी प्रकार काव्य-कृति "दि वेस्ट लैंड" विश्व-युद्ध की छाया में पनपी आध्यात्मिक बंजरता, रिक्तता, और अस्तित्व-हीनता की ऐतिहासिक विभीषिका का प्रभाव सौंप पायी है।

"दि कैशल" में आतंक और दहशत के अनेक सन्दर्भ जुटा कर काफ़्का व्यक्ति की अस्तित्व-चिन्ता के अनेक ऐतिहासिक पहलू सृजित कर सके हैं। इसी तरह कामू "द स्ट्रेन्जर," "क्रास-पर्पज़ेज़," "केलिगुला," और "द प्लेग" में मानव-प्रकृति के अजनबीपन, ऊलजलूलपन

ग्रौर नृशंस मन के ग्रनेक ऐतिहासिक बिम्ब रच देते हैं। कामू में क्षरण-भंगुरता ग्रौर ग्रस्तित्व की लघुता के ग्रनेक दर्शन-सम्पन्न ऐतिहासिक ग्रहसास परिलक्षित किये जा सकते हैं। इस सदी के इतिहास-बोध को जागृत करने वाली ऐसी ही बहु-चर्चित कृतियां हैं— "फ्लाइज़," "इन कैमरा," "राइनो," "सिक्स कैरेक्टर्ज़ इन सर्च ग्राफ़ एन ग्रॉथर," "टाइगर एट द गेट्स," "लाइम्स फ्रॉम द सिसिली," ग्रौर "पॉएट"। इन सब कृतियों में बीसवीं सदी के दारुण एवं विभीषक इतिहास-सत्य ग्रभिव्यक्त हुए हैं।

बीसवीं शताब्दी के त्रासक सत्यों में ग्रग्रणी दो विश्व-युद्धों की ग्रमानवीय विभीषिका रही है। सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में युद्ध-ग्रातंक के हृदय-विदारक दारुण दृश्य ग्रंकित हुए हैं। युद्ध, जं एक समय सांस्कृतिक गरिमा का विजय-प्रतीक समझा जाता था, ग्रणु-धूलि के विध्वंस का साक्ष्य पाकर वह मानव इतिहास-बोध की त्रासक दुर्घटना सिद्ध हो गया। युद्ध की वहशी भयंकरता से ग्रस्तित्व की क्षरण-भंगुरता, ग्रादमियत के बौनेपन, तथा सांस्कृतिक स्खलन के रचनात्मक बिम्ब उभरे। यह युद्ध-संवेदना समकालीन ग्रस्तित्ववादी साहित्य, तथा ग्रन्य काल-गत कृतित्व में साकार हुई।

ग्रति-लक्ष्मी ग्रौर ग्रति-यांत्रिकता से ऊब ग्रौर उकताहट की मानसिकता का उद्भव हुग्रा। यांत्रिक विपुलता में ग्रात्मिक शांति का लयात्मक संगीत विलुप्त हो गया। इन्सान एक चीख़, एक ठण्डापन, एक ग्रर्थ-हीनता, ग्रौर एक हत्रस बन गया। उसकी चारित्रिक उज्ज्वलता के पृष्ठ स्याह हो गये। इस इतिहास-बोध की प्रतिक्रिया-स्वरूप ग्रात्महनन, ग्रप्राकृतिक मैथुन, हाराकिरी, स्वप्न-भंग, भ्रम-भंग, तथा रति-उच्छृंखलता के ग्रमर्यादित मुहावरे प्रचलित हुए। ये मुहावरे चूंकि मानव ग्रात्मा के स्वास्थ्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे, ग्रतः इनकी सतही सारहीनता शीघ्र ही स्पष्ट हो गयी। भारत में ग्रलेखन की व्यापक सांस्कृतिक ग्रराजकता इसी इतिहास-बोध की ग्रनुकरणात्मक ग्रावृत्ति थी।

भारत में बांगला-मुक्ति युद्ध, ग्रणु-परीक्षण का ग्रात्म-विश्वासी उल्लास, ग्रापातकाल का ग्रमानवीय नियंत्रण, तथा राजनीतिक मुक्ति का नया दौर समय के ऐतिहासिक युग-प्रश्न रहे हैं। काल-दृष्टि-सम्पन्न रचनाकार इन काल-प्रश्नों को ग्रपनी रचना-सामग्री में, इतिहास-बोध की मूल्यगत संवेदना के साथ, शब्दांकित करते रहे हैं।

इतिहास का रथ कभी रुकता नहीं है। वह ग्रपनी निश्चित गति से गतिमान रहता है। वह इस बात की चिंता या ग्रपेक्षा नहीं रखता कि रचनाकार उसकी गति को पकड़ने में समर्थ है या नहीं। यह तो रचनाकार की ग्रपनी जागरूकता का सवाल है कि वह इतिहास की संवेदनात्मक ग्रर्थवत्ता से ग्रपने ग्रात्म-बोध को समृद्ध रखे। इतिहास तो यहां-वहां, किसी-न-किसी स्रष्टा में ग्रपने बोध की ग्राकृति पा ही लेता है। वह किसी रचनाकार-विशेष की प्रतीक्षा नहीं करता कि वह उसे रचनात्मक सन्दर्भ प्रदान करे। यह तो रचनाकार की ग्रपनी रचनात्मक ग्रस्मिता की पहचान है कि वह इतिहास की पदचाप पहचानता है या

नहीं। इतिहास की अपहचान रचनाकार को अजनबीपन या कला-विलासिता के जंगलों में भटका देती है।

स्वतंत्र भारत के अनेक नये युग-सन्दर्भ रहे हैं। उनमें प्रमुख हैं :—

भूख, अशिक्षा, बेरोजगारी, अकाल, साम्प्रदायिक विष, भाषा-द्वन्द्व, प्रान्त-संकीर्णता, क्षेत्रीयता, युवा-आक्रोश, वर्ग-वैषम्य, राजनीतिक अतिवाद, भ्रष्टाचार, पीढ़ियों का अंतराल, और नैतिकता का ध्वंस। लेखक लाख प्रयत्न करे, वह समय के इन ज्वलंत सत्यों से बच नहीं सकता। इन सामयिक प्रश्नों से असंदर्भित साहित्य कलात्मक बेशक हो, पर वह ऐतिहासिक नहीं हो सकता।

अतः सिद्ध हुआ कि इतिहास-बोध एक अनंत, अनवरत, सतत, गतिमान समग्र-प्रवाह है। समय की संवेदना का वाहक मात्र लेखक होता है, कोई इतिहासकार या समाज-शास्त्री नहीं। लेखक को अपनी रचनात्मक प्रतिभा का प्रतिफलन काल-प्रवाह से ही प्राप्त होता है। जॉन कीट्स (John Keats) जैसे उदाहरण बिरल हैं, जो प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी काल-प्रवाह के प्रति अन्यमनस्क रहे। वे अपनी कला के आनन्द-निकेत में ही स्वान्तः-सुखाय उल्लास के विस्मरण में निमग्न रहे। ऐसे सर्वथा ध्यान-मग्न कला-पुजारी संख्या में न्यूनतम ही रहे हैं।

इतिहास-बोध और कला-स्तरीयता के बीच द्वन्द्व की कोई स्थिति नहीं है। वास्तव में साहित्य कला-हीन होता ही नहीं है। काल-प्रश्न भी इतिहास-बोध में तभी परिवर्तित हो सकते हैं, जब उनकी रचनात्मक प्रस्तुति कलात्मक स्तरीयता का संकेत दे सके। कला-हीन समय-तथ्य मात्र वर्णनात्मक कथा-सूत्र या काव्यांश रह जाते हैं। उनमें संवेदन-सम्प्रेषण की क्षमता नहीं होती। किस्सागोई और कलात्मकता में एक निश्चित भेद है। किस्सागोई मात्र तथ्य-संकलन है, जबकि कलात्मकता तथ्यों की मूल्य-संवेदना का निर्यात करती है। अंग्रेजी में एक सुन्दर विश्लेषण-वाक्य है, 'आप एक शब्द-चितेरे हो सकते हैं, जरूरी नहीं कि आप कवि भी हों; आप एक किस्सागो हो सकते हैं, जरूरी नहीं कि आप कथाकार भी हों।'

इतिहासकार और रचनाकार में यही भेद है, जिसे सदियों पूर्व ही अरस्तू ने स्पष्ट कर दिया था।



एकाँतिक अनुभूति की दो कविताएं

● अशोक जेरथ

एक

अजनबी कटी सी खामोश भीड़ का
कंटीली पिलियाई चादर से ढके—
बबूल सा प्रहरी;
ठन्डी ठन्डी मीठी पीर से गहराई
गर्म गर्म दुपहरी
अन्जन से भरीं—
चीखती सी खामोश रातें
सिमटी हुई फैल फैल जाती हैं
चुप सी बातें
और ?
और तो कुछ दिखा नहीं
हाय ! उसने कुछ भी तो लिखा नहीं।

पहली फुहार से उमड़े कूल
गन्धाता पराग उड़ा रहा धूल
रजनी अंजन का छोड़ सहारा
विचरने लगी गन्ध की चाह में;
हुलसी धरा रो दी
छोड़ने लगी मोती बिन्दु
भोर की राह में
गूंज उठी दोयल[1] की सी-सी शालवन में
गुमी हुई पीड़ा फिर टीस उठी, मन में
चकोर की आंखें ढूंढने लगीं,
किसी चन्द्र को
पर !
कुछ भी तो दिखा नहीं

हाय !
उसने कुछ भी तो लिखा नहीं

दो

तुम्हारी चिट्ठी मिली
खोलने से पहले ही तुम्हारी गन्ध को—
महसूस कर लिया है मैंने।
तुम्हारे शब्दों में फैली उदासी
धीरे धीरे मेरे अन्तस में तिर आई है
तुम्हारे यहां की भीगी शाम
मेरी गर्म दुपहरी पर घटा बन छाई है।
चिनार से कटे सहस्रों टुकड़ों को
जो तुमने उछाला है—
बरगद की घनेरी छांव में
मैंने एक एक करके लोक लिया है।
सूखे जंगलों की सी खामोशी—
देवदारों की सनसनाहट
बुढ़ाया समय फिर लौट लौट आया है
याद है तुम्हें
जब समय गूंगे प्रहरी की तरह थम गया था
दोनों हाथों से रोशनियों को उलीच
हमने उस दिन के सूर्य को जला दिया था
सहकता सा उसका बिम्ब
कई रोज तक शीशे की पारदर्शक
दीवारों के उस ओर
छटपटाता रहा था—अपनी रिहाई के लिए
तुमने उसे अपनी अंजली में समेटकर
चोली में रख लिया था
उसके बाद—
कुछ याद नहीं
सब कुछ जैसे आत्मसात कर लिया हो मैंने
तुम्हारी चिट्ठी मिली/खोलने से पहले ही
तुम्हारी गन्ध को महसूस कर लिया है मैंने।

---

१. दोयल : काले रंग का एक लम्बा सा पक्षी जो शाल वनों में सी-सी की गूंज करता रहता है।

एक युवा हस्ताक्षर

इतिहासज्ञ रच गये इतिहास

● उपेन्द्र रैणा

इतिहासज्ञ लिख गये इतिहास
जिस में
मैं अंकित हूं
एक घटना के नाम से ।

अपनी जो डायरी है
उसमें मर चुका हूं एक अंतिम पृष्ठ पर ।
दीवार के आर-पार लोगों का कहना है :
एक पूरा नाटक,
लिखकर सो रहा हूं एक लम्बी नींद ।
प्रयत्न-प्रयत्न में
लिख चुका हूं—
"पात्र के इर्द-गिर्द बुना गया नाटक हो,
मंच के पर्दे के आर-पार जीवित हो
और
मरती हो नाटक के अन्त में बार-बार" ।

कभी-कभी कमरे में मेरे आकर
करती थी नृत्य
और मेरी मां तुम्हें कमरे से भगा कर
कहती थी;
"छोरा यह जन्मा नहीं,
पड़ी हो इसके पीछे" ।

कमरे का द्वार बन्द कर,
सो जाती थी मुझे लेकर
ओढ़ के चादर
ताकि मैं लौट आऊं
लिखकर एक नाटक
एक डायरी का पन्ना
इतिहास की घटना ।

जन्मते वैसे सुनी मैंने
सबों की काना-फूसी—
"निर्लज्जा यह भूल आई
औरों के कमरे में घुंघरू अपना" ।
द्वार के पार तुम
खड़ी रो रही हो ।
जानती नहीं हो
मां ने बांधा है मेरे ही पांव में ।
घुटनों अब चलता हूं—
इतिहास के पृष्ठों पर
डायरी की तिथि में
आर-पार दीवार के खड़े
लोगों की बातों में,
खुद के नाटक में—
जिसकी हो नायिका ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक में युवा वर्ग

● डॉ० सिम्मी गुप्त

आज का नाटक जीवन की विविध समस्याओं का सुलझाव है। राष्ट्र तथा समाज जिस वर्ग के बल, विवेक से उन्नत एवं समृद्ध होना चाहते हैं उस 'युवा वर्ग' की चर्चा आज के नाटक का मुख्य ध्येय रहा है। 'युवा वर्ग' अथवा 'तरुणाई' का प्रमुख गुण 'विध्वंस' या 'रचना' रहा है। 'विध्वंस' उसके 'आक्रोश' का वह शस्त्र है जिसके फलस्वरूप वह अपनी अवहेलना का बदला लेता है। परन्तु जहां राष्ट्र, समाज तथा परिवार उसके उत्साह एवं बल की सराहना करते हैं वहां वह उत्सर्ग की भावना से सम्पूर्ण जाति के कल्याणार्थ कार्यरत हो उठता है। उसका वही रचनात्मक कार्य इतिहास में एक और (नए) अध्याय की रचना करता है।

स्वातंत्र्योत्तर जटिल परिस्थितियों ने जहां राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में उथल-पुथल मचा दी वहीं उस उथल-पुथल से मिले थपेड़ों ने उसे क्रोधी, आत्मकेंद्रित, असन्तुष्ट, पलायनवादी, हिंसक, अनास्तिक और मुक्त भोगी बनाकर रख दिया है।

'घर' यहां से युवक सुरक्षा, वात्सल्य एवं प्रेरणा पाने का इच्छुक होता है, मानसिक असन्तोष तथा आर्थिक विसंगतियों के कारण उसे एक 'चिड़ियाघर' सा लगने लगता है जहां पर भांति-भांति की वृत्तियों वाले प्राणी अपने स्वार्थ के निमित्त जबरदस्ती बन्द कर दिए गए हों। मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' में इस स्थिति का यथातथ्य चित्रण हुआ है। पति-पत्नी में कलह मची रहती है, भाई-बहन में भी पारस्परिक स्नेह तथा विश्वास नहीं रहा है।

सभी एक दूसरे के प्रति अनास्था रखते हैं। बड़ी लड़की बिन्नी ऐसे वातावरण में अपनी सांस दबती हुई पा भाग जाती है। वह जुनेजा अंकल से कहती है, "**इतने साधारण ढंग से उड़ा देने की बात नहीं है, अंकल। मैं यहां थी, तो मुझे कई बार लगता था कि मैं एक घर में नहीं, चिड़ियाघर में एक पिंजरे में रहती हूं।**"

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भावना तभी उसमें घर करती है जब घरेलू वातावरण में आर्थिक अभाव की कड़ुवाहट, माता-पिता में लड़ाई झगड़ा एवं भाई-बहन में अनबन हो। तभी वह उन्मादित होकर घर की दीवारों को तोड़ उन्मुक्त हो बाहर की हवा में विचरण करना चाहता है। मोहन चोपड़ा कृत **'आंधी और घर'** में इस स्थिति का सटीक वर्णन किया गया है। यौवनोन्मेष से उफनता हुआ विद्रोही सुन्दर अपने अन्दर के आक्रोश को निकालने के लिए घर की दीवारें, दरवाजे तोड़ता फिरता है। उसकी इस विद्रोही प्रवृत्ति पर उसकी दादी इस प्रकार प्रकाश डालती है, "**अपने कमरे का किवाड़ तोड़ दिया। कहता है कमरे में दम घुटता है।**" कभी-कभी उसकी विद्रोही प्रवृत्ति बार-बार असफल होने पर उद्दण्डता का रूप धारण कर लेती है। वह उस समय स्थिति के प्रति अविवेकी हो उठता है। चिरंजीत कृत **'घेराव'** में विद्यालय में विद्या अर्जित करने के लिए आए हुए छात्र अपने धर्म को भुला कर परिणय-व्यवहार के चक्कर में पड़ नित हड़ताल करते फिरते हैं अपनी सहशिक्षा बनाए रखने के उद्देश्य से अपने विद्यालय के अध्यक्ष का 'घेराव' कर देते हैं। वे उद्देश्य से भटके हुए हैं। क्षणिक सुख के लिए सनातन मूल्यों को नकारने के लिए कटिबद्ध हैं। उनके लिए व्यक्तिगत समस्यायें देश से बढ़कर हैं। निस्संदेह वे दिशाहीनता की अवस्था को प्राप्त हो गए हैं।

किशोरावस्था में ही अपने हृदय में 'कुछ बन पाने' की चाह लेकर वह बड़े बड़े विद्यालयों में जी-जान से परिश्रम कर शिक्षा ग्रहण करता है परन्तु जब वह बाहरी परिवेश में अपने लिए उपयुक्त स्थान की मांग करता है तो वहां उसे एक ही स्वर सुनाई देता है 'स्थान नहीं है।' 'पहुंच' एवं अवसरवादिता के इस युग में उसकी डिग्रियां धरी की धरी रह जाती हैं और उससे अयोग्य, रसूख वाले ऊंचे-ऊंचे ओहदों को पा जाते हैं। इसी यातना को भोगता हुआ **जिन्दगी के मोड़ पर** का सरूप अपने पिता से कहता है, "**पर मैं भी क्या करूं बाबू जी ? दूसरों के पास सिफारिशें हैं— पैसा है। वह अमीर और खानदानी घरों के लोग हैं। मेरे पास क्या है ? एक गरीब खानदान, बेरसूख एक क्लर्क बाप।**" **'न्याय की रात'** में न्याय प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध जुगलकिशोर इस शोषकीय हथकण्डे पर कठोर व्यंग्य करता हुआ कहता है, "**यहां देश की चिन्ता किसी को नहीं है। सबको अपनी-अपनी चिन्ता है। कहीं दोस्ती चलती है, कहीं धड़ेबन्दी चलती है और कहीं प्रांतीयता की सड़ी-गली भावना चलती है।··· यहां काम को और योग्यता को कोई नहीं देखता।**" इस संत्रास की अवस्था से छुटकारा पाने के लिए ही वह बड़ी बड़ी डिग्रियां ले नौकरी के चक्कर में नहीं पड़ता अपितु अश्लील, कामुक पुस्तकें पढ़ना उसे रुचिकर लगने लगता है। इस दिशा-हीनता का बोध **'आधे-अधूरे'**

के युवा पात्र से हो जाता है। वह अफसरों के आगे अपनी डिग्रियों की नुमाइश करके कोई पद नहीं पाना चाहता, वह बिना वजह कमरे में बन्द होकर सैक्स सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता रहता है या फिर अपनी 'फैन' से मिलने की योजना बनाता रहता है। इसी भांति **'चिंदियों की एक झालर'** का मंगल भी दिशाहीन जीवन व्यतीत कर रहा है। उसने पढ़ लिख कर मां-बाप की उम्मीदों में रंग भरने चाहे थे परन्तु अफसरों की गीद्ध दृष्टि के आगे उसकी उपाधियां कुछ नहीं कर पातीं तब वह 'हिप्पी' बन कर अपने सारे मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से छुटकारा पाने का यत्न करता है।

दिशाहीन युवक रमेश बक्षी कृत **'तीसरा-हाथी'** के पात्रों (शुभा, मोहन, रोशन, विभा, सोहन) की भांति अस्तव्यस्त, असमंजसपूर्ण जीवन व्यतीत करता हुआ स्वतः ही अपने दुर्विचारों के जाल में फंस कर छटपटाता रहता है या फिर नर्वस ब्रेक-डाउन का शिकार हो अपने साथ पाशविक व्यवहार की कामना करता है। शुभा ऐसी स्थिति का ज्वलंत उदाहरण है। निम्नलिखित संवाद से वह पूरी बात स्पष्ट कर देती है, **"छोड़ो मुझे पापा, पापा, पापा— है कोई यहां जो मुझे बचाये। यह मुझ पर चढ़ बैठा है, मुझे नोच रहा है, मुझे खा रहा है यह। ...मैं लुट गई। ...पापा यू हेव रेप्ड मी पापा।"** मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण युवा वर्ग का व्यक्तित्व अव्यवस्थित हो उठता है और तब उसे कमलेश्वर कृत **'अधूरी-आवाज'** की नायिका रंजना के समान दोहरा जीवन व्यतीत करना पड़ता है जिससे वह सामाजिक तथा पारिवारिक दोनों परिवेशों में मिसफिट हो जाता है।

जीवन में प्राप्त घोर निराशा युवावर्ग को पलायनवादी बना देती है। मुद्राराक्षस कृत **'मरजीवा'** में भूमि तथा आदर्श जीवन की यातनाओं से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या करने के लिए तत्पर हो उठते हैं, **"इस बेबसी से बेहतर है कि हम खुद उस (मौत के) पेंडुलम को खींचकर अपने ऊपर ले लें। कम से कम कुछ करने का एहसास तो होगा।"**

अवसाद से घिरा भूखा युवावर्ग तथाकथित पालनहार एवं सुख-सम्पदा देने वाले ईश्वर की खिल्ली उड़ाने से बाज़ नहीं आता। **'दूसरा दरवाज़ा'** में शिक्षित युवकों के संवादों से ईश्वर के प्रति बढ़ती अनास्था स्पष्ट हो जाती है :—

पुरुष—हमें ईश्वर को याद करना चाहिए। सिर्फ वही हमें बचा सकता है।

पहला पुरुष—ईश्वर क्या है ?

दूसरा पुरुष—हमने एक कैलेंडर में उसका चित्र देखा था।

पुरुष—उसके असंख्य हाथ और मुख हैं।

पहली युवती—तभी यहां भोजन-वस्त्र का अकाल है।

ईश्वरवादियों की धारणा है कि ईश्वर शरणागत की रक्षा करता है लेकिन इस सिद्धान्त को बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरता न पा आज का बुद्धिवादी युवक ईश्वर के प्रति अविश्वासी हो उठा है। कृष्ण किशोरश्री वास्तव कृत **आदमी के टुकड़े**, दिनेश ठाकुर

कृत **दीवार**, रमेश मेहता कृत **जमाना** में युवा पीढ़ी की ईश्वर के प्रति बढ़ती अनास्था को अंकित किया गया है।

भौतिक मूल्यों के प्रति आकृष्ट हो बुद्धिजीवी युवा पीढ़ी पुरातन गले-सड़े सिद्धान्तों एवं नीतियों का खण्डन करके नए जीवन-मूल्य निधारित कर एक आदर्श समाज की व्यवस्था करती है। **रक्त कमल** का कमल, जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद कृत **समर्पण** का नवीचन्द्र, लक्ष्मी-नारायण लाल कृत **दर्पण** का हरिपदम, प्रेमनाथ दर कृत **घर की बात** का जीवन, रेवती सरन शर्मा कृत **न धर्म न ईमान** का पात्र दिनेश, रमेश बक्षी कृत **देवयानी का कहना है** की नायिका देवयानी, उपेन्द्रनाथ अश्क कृत **कैद तथा उड़ान** की नायिका माया तथा सर्वेश्वर दयाल सक्सेना कृत **बकरी** का युवक ऐसे पात्र हैं जो प्रेम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, मानवीय अधिकारों एवं समानता के लिए जागरूक हो कर संघर्षरत हैं। वह समाज में आमूल परिवर्तन के लिए क्रान्ति के संवाहक बन के प्रस्तुत हुए हैं। ऐसे ही कार्यों से प्रभावित हो उन्हें **देश का निर्माता** कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक युवा वर्ग के क्रिया-कलापों का खुला किन्तु प्रामाणिक दस्तावेज़ है। एक ओर स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक युवा पीढ़ी में फैले असंतोष तथा क्रोध को उजागर करता है तो दूसरी ओर वह उसके उस रूप की सराहना किए बिना नहीं रहता जिसके बल से देश उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है।



प्रार्थना करो

● भगवती लाल व्यास

फिर हम अंधेरों के
हवाले कर दिये गए समारोहपूर्वक
अगर मंचों के आंख होती
तो वे देखते हमारी
दुर्दान्त जिजीविषा

उजालों के व्यंग्य चुभते रहे
पूरे सफर में
जबकि लैम्पपोस्ट का दीया
अपनी जगह से हिला तक न था
यह भी कैसी विवशता है
कि आदमी और उसका प्यार
अलग-अलग रास्तों पर
चलते हैं।

मुद्रा और मुद्राहीनता के
बीच का फासला
इतना कम नहीं हुआ था कभी
अब चिड़ियाएं कहां
बनाएंगी अपना घोंसला
यहां हर रोशनदान में
कम्प्यूटर लगा है

रेत में सीपियों के खेल
कौन खेलेगा अब
तमाम गर्भस्थ शिशुओं के
हाथ में कुछ झण्डे और
चंद नारे थमा दिए गए हैं
मां जुलूस की शक्ल में
सड़क पार कर रही है
और बाप किसी फटेहाल
ट्रक ड्राइवर की जेब में
प्रजातंत्र-संधान कर रहा है।

स्वप्न वही तो नहीं
जिसे हम सबसे—
यहां तक अपने आपसे भी
कट कर देखते हैं
दरअसल हमने सोचने की शुरुआत
ही गलत की थी
कि हम काट लेंगे
हिमालय को अपने बघनखों से

बघनखे
आदमी को नृसिंह बना सकते हैं
भले ही वे हिरण्यकश्यप को
सबक सिखादें
पर वे किसी का अग्निकवच
नहीं बन सकते।

दर्शकगण !
इस बार प्रह्लाद के लिए
प्रार्थना करो
सिर्फ प्रा-र्थ-ना।

❖❖❖❖

ज़िन्दा रहने का सवाल

● पृथ्वीनाथ मधुप

अभी
जुड़ गई हैं और आवाज़ें
उन आवाज़ों के साथ
जो हम-तुम—
चिरकाल से सुनते आ रहे हैं :
जब हम -
पहली बार रोये थे
आवाज़ें सुन
चुप हो
कल्पनाओं में खोये थे।
आज—
जब हमें
पूरी पांच पंचवर्षीय योजनाएं जी चुकीं
यही आवाज़ें सुन रहे हैं;
शब्दों में,
आरोह-अवरोह में
थोड़ा-सा अन्तर होते हुए भी
इन सब आवाज़ों का अर्थ—
एक ही है।
कितने सपने
खरीद लिये हमने !
अब हमारे पास बचा क्या
सपनों के सिवा ?
आवाज लगाने वालो
ओ स्वप्न-विक्रेताओ !
आज तक हम सोये
तुम्हारे दिये—
स्वप्नों में खोये
कब तक सांस लेते रहेंगे ?

टूटने के बहुत नज़दीक

● महाराज कृष्ण सन्तोषी

हर टूटना
मेरे ही नज़दीक होता है
जैसे दीवार से गिरे शीशे की झंकार
कि जिसे मैं सुन लूं !

वह एहसास भी
मुझपे ही लिपट जाता है
जिसमें मरी हुई चिड़िया
और उजड़ा हुआ घोंसला—
दोनों साथ साथ रहते हैं !

सूख जाने वाला हर
कुआं
मुझमें ही पनाह लेता है;
मैं
समुद्र में विनष्ट किसी पोत का
अंतिम जल हूं...
कि किसी भी सड़क पर घटी दुर्घटना
मेरे ही भीतर घटती है !

टूटे दर्पण के हर टुकड़े पर
झांकता है एक प्रतिबिम्ब
कि जिसे मेरे हस्ताक्षरों ने
प्रमाणित किया है !

मैं अब अपने को
टूटने के बहुत नजदीक
पाता हूं।

मोटर सायकल

● मनसाराम शर्मा 'चंचल'

सविता जब पहली बार शिमला पहुंची तो उसके हृदय में जहां उल्लास ठाठें मार रहा था, वहां एक प्रतिशोध की ज्वाला भी धधक रही थी। आज सविता अपने प्रांत की प्रथम महिला कलैक्टर है। उसने अपने सेवा-जीवन की अल्पावधि में ही अपनी योग्यता और प्रतिभा की काफी धाक जमा रखी थी और अब उसे एक जिले की प्रशासन-प्रमुख बनने का सौभाग्य मिला था। वहां उसे असीम अधिकार मिले थे, अनेक उत्तरदायित्व उसके कन्धे पर थे। उसे इस महत्त्वपूर्ण पद पर सफल होना है, यह उसकी उत्कट इच्छा थी, लेकिन इसके साथ ही एक प्रतिशोध, जो उसके हृदय में बड़ी देर से पनप रहा था, आज क्रियान्वित होने को आतुर हो रहा था। वह एक व्यक्ति से बदला लेना चाहती थी, जोकि उसके ही कार्यालय में एक क्लर्क था।

सविता के शिमला पहुंचने पर उसका चारों ओर से स्वागत हुआ। नगर की सभा-सोसायटियां, गण्यमान्य नागरिकों और अधिकारियों ने उससे भेंट की। अपने सहयोग का आश्वासन दिया और अपनी समस्याएं भी उसके सामने रखीं, जिन पर सविता ने अपनी सहानुभूति प्रकट की और यथाशक्ति उन्हें हल करने का वायदा भी किया।

सविता ने इसी प्रकार अपने कार्यालय के सभी सदस्यों से भी भेंट की। वे सामूहिक रूप से उसके पास आए। मुबारिक दी। सविता ने उनसे बड़ा सौजन्यपूर्ण व्यवहार किया, उन्हें अपना कामकाज ईमानदारी और निष्ठा से करने का उपदेश दिया और उन्हें हर प्रकार की सहायता का आश्वासन भी दिया। तदुपरान्त उसने उनमें से एक एक से

पृथक पृथक भेंट की और इस प्रकार उनके विचार, समस्याएं और दफ्तर के काम काज के बारे में भी जानकारी प्राप्त की।

एक सप्ताह में ही सविता को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारी लोकप्रियता प्राप्त हो गई। कार्यालय के लोग अब उससे डरते कम थे, काम में दिलचस्पी लेते और अपने को हर प्रकार से सविता की प्रशंसा का पात्र बनाने को लालायित रहते। सविता जो इससे पूर्व अपने कठोर व्यवहार के लिए मशहूर थी अब अपने मृदु-स्वभाव से लोकप्रिय बन गई। कई बाबू तो जानबूझ कर बहाने बना कर अन्दर जाने का समय ढूंढते रहते। सविता इन सब बातों को न समझती हो, यह बात नहीं थी। वह यह सब जानती थी, लेकिन इसके बावजूद किसी को भी निरुत्साहित नहीं करती थी।

इस प्रकार सविता दफ्तर और शहर भर में "बहिन जी" के नाम से प्रसिद्ध हो गई। जिला में तैनात दूसरे सभी अधिकारी भी सविता से बड़े प्रभावित थे और प्रत्येक मामले में उससे निर्देश लेते। जनता अपनी शिकायतें, तकलीफें लेकर सविता के पास आती और वह भी हर प्रकार से उन्हें दूर करने की कोशिश करती।

पर इतना सब कुछ होने के बावजूद दफ्तर का हैडक्लर्क अशोक कुमार कुछ दबा-दबा रहता। सविता के व्यवहार में उसके प्रति कोई तब्दीली नहीं आई थी। वह उससे भी दूसरे लोगों की तरह पेश आती; लेकिन उसे ऐसा प्रतीत होता कि सविता की आंखें उसे घूरती हैं और वे अशोक के प्रति कुछ शंकालू हैं, जैसे उसने कोई अपराध किया हो। अपराध क्या है, यह वह स्वयं नहीं जान सका। आ-जा कर उसे यही विचार था कि उसके रिश्वत आदि के मामले सविता के नोटिस में आ गए हैं या कभी-कभी बीवी-बच्चों के अनुरोध पर कार्यालय से लुप्त रहना पड़ता है या उसका कुछ काम पैंडिंग रहता है। कुछ भी हो, उसे कभी साहस नहीं हुआ कि वह उससे आंखें मिला सके।

आज सविता के पास अशोक कुछ कागज़ लेकर आया तो वह टैलिफोन सुन रही थी। सविता ने उसे आंख के इशारे से ही बैठने का संकेत किया और फिर फोन पर बात करने लग पड़ी। सविता इतना खिलखिला कर फोन पर बातें कर रही थी कि अशोक को वहां बैठना उचित न लगा। वह उठकर जाने लगा तो सविता को एहसास हुआ कि कार्यालय में कोई दूसरा व्यक्ति भी है, जिसके बारे में वह भूल ही चुकी थी। फिर भी वह उसी जोश से बातें करती रही, जैसे इस व्यक्ति की उसे परवाह ही न हो, लेकिन पुनः आंख से उसे बैठने का निर्देश भी दे दिया। उसे मजबूर हो बैठना ही पड़ा।

यह फोन गिरीश का था, जोकि नगर का प्रमुख पत्रकार था। सविता के शिमला पहुंचने के बाद गिरीश सविता के काफी समीप आ गया था, क्योंकि दिल्ली कालेज में वह उसका सहपाठी रह चुका था। सविता बी० ए० करने के बाद आई० ए० ऐस० की तैयारी में लग गई थी, जबकि गिरीश पत्रकारिता के क्षेत्र में चला गया था। आज शिमला में दोनों

तैनात थे। चूंकि गिरीश का एक प्रमुख समाचार के संगठन के प्रतिनिधि के नाते नगर में प्रमुख स्थान था, अतः सविता के लिए उसकी उपस्थिति काफी सहायक सिद्ध हुई थी।

फोन खत्म करने के पश्चात् सविता ने उसकी फाइलें देखनी आरम्भ कीं। इससे पूर्व फोन करते समय सविता ने सिर झुकाए अशोक को कई बार देखा। उसे अशोक को पहचानने में कोई मुश्किल पेश नहीं आई। पांच छः वर्ष की अवधि कोई लम्बी नहीं होती। परिस्थितियों में घिरे व्यक्ति के रंग ढंग में कुछ परिवर्तन तो अवश्य आता है; परन्तु उसे पहचानने में कोई बाधा नहीं पड़ती।

सविता ने उस व्यक्ति का चित्र देखा था। उसे स्मरण हो आया कि एक बार वह उसे कालेज में भी एक सहपाठी के साथ मिला था; परन्तु तब इसकी तड़क-भड़क, शान-शौकत और थी और आज एक बाबू बना फाइलें लेकर उसके समक्ष बैठा है— निरीह और सामान्य व्यक्ति। सविता ने पूछा, कहां के रहने वाले हो? अशोक ने कहा, फरीदकोट का। सविता ने आगे कुछ न पूछा और चुपके से फाइलों पर दस्तखत किए और फिर दूसरा काम देखने लग पड़ी। अशोक कब गया, उसे ध्यान ही न रहा।

अशोक के चले जाने के बाद सविता के मस्तिष्क में अतीत की कुछ स्मृतियां चलचित्र की भांति घूम गईं। दिल्ली कालेज, उसका अपना छोटा सा क्वार्टर, उसकी चार बहनें, रिटायरमैंट की स्थिति को पहुंचे पिता और घर की सामान्य स्थिति। सविता के पिता की इच्छा थी कि रिटायरमैंट से पूर्व उनकी एक लड़की की शादी अवश्य हो जाए। बड़ी होने के नाते सविता के विवाह के लिए दौड़-धूप शुरू हुई। एक वर ढूंढा गया और सविता के न करने के बावजूद उसकी मंगनी फरीदकोट में एक दुकानदार के लड़के से कर दी गई। शादी की तैयारियां होने लगीं और कुछ ही दिनों बाद सविता बहू बन कर जाने ही वाली थी, लेकिन एक दिन घर में हलचल मच गई। खाना-पीना बन्द और मां-बाप परेशान इधर-उधर भागते-दौड़ते दिखाई देने लगे।

सविता को इस असाधारण स्थिति को समझने में देर न लगी। उसने अपनी छोटी बहन रीता से पूछा कि आखिर मामला क्या है? रीता ने बताया कि जीजा जी ने मोटर सायकल के साथ कुछ अन्य मांगें रखी हैं।

"बस इतनी सी बात?" सविता ने अपने पिता के पास जाकर कहा, "मैं पहले भी इस विवाह के विरुद्ध थी और अब मैंने निश्चय कर लिया है कि यह विवाह नहीं होगा।"

"पर लोग क्या कहेंगे? मैं बाहर मुंह कैसे निकाल सकूंगा?"

"कुछ नहीं होगा। आप कह दीजिए, लड़की नहीं मानती। इसमें शर्म की कोई बात नहीं। मैं दो वर्ष विवाह नहीं करूंगी और उसके बाद आपकी मर्जी।"

सविता ने फरीदकोट चिट्ठी लिख दी कि मुझे यह रिश्ता मन्जूर नहीं। इस बात के लिए आप मुझे क्षमा करें और आपको छुट्टी है कि आप जहां चाहें विवाह करलें। इस बारे

में हमसे कोई और अधिक बात करने की आवश्यकता नहीं, आप इस अध्याय को समाप्त समझिए।

उसके बाद फरीदकोट के रिश्ते का क्या बना ? सविता ने इसमें कभी दिलचस्पी नहीं ली और वह दिल-जान से आई० ए० ऐस० की तैयारी में जुट गई। दो साल बाद सविता आई० ए० ऐस० में निर्वाचित हो गई। मसूरी ट्रेनिंग के बाद विभिन्न पदों पर काम करते-करते अब उसने डिप्टीकमिश्नर बनना था। प्रांत की प्रथम महिला कलैक्टर। सविता ने अधिकारियों से बात की कि यदि मुझे कलैक्टर ही बनाना है तो शिमला में बनाइए। उसकी बात मानी गई और उसकी नियुक्ति शिमला में हो गई।

शिमला जाने के पीछे उसकी एक ही इच्छा थी कि वह कम से कम उस हीरो से दो बातें कर सके, जिसने एक मोटर सायकल की खातिर उसे ठुकराया था और आज वह व्यक्ति एक मामूली क्लर्क के तौर पर उसके कार्यालय का बाबू है। सविता की प्रतिशोध-भावना जाग उठी और उसने अगला कार्यक्रम तय कर लिया।

सविता का व्यवहार दिन-प्रति-दिन अशोक के प्रति रुक्ष से रुक्ष्यतर होता गया। उसकी फाइलों में कई गल्तियां, कई हेरा-फेरियां और कई कमियां निकलने लग पड़ीं। अपने स्वभाव के विपरीत सभी दफ्तर के बाबू अशोक को झाड़ पड़ते देखते और कुछ ही सप्ताहों में उस अशोक की स्थिति दयनीय हो गई, जो कि कल तक कार्यालय का महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता था।

अशोक को मैडम के बदले तेवरों के रहस्य का कोई पता न चल सका। वह उसे पहले मामूली बात समझता था, पर अब उसे इसमें अपने साथियों की साज़िश दिखाई देने लगी। इसी परेशानी में उसका ठीक काम भी खराब होने लगा। साथियों ने उसे धैर्य रखने का परामर्श दिया; लेकिन उसे अपनी सर्विस खतरे में दिखाई दे रही थी।

एक दिन अशोक डरते-डरते कुछ फाइलें लेकर कमरे में दाखिल हुआ तो उसने मैडम को फिर उसी प्रकार किसी को फोन करते पाया। सविता ने उसे बाहर जाने का निर्देश दिया। वह बाहिर आ गया। कुछ क्षणों के बाद अर्दली ने अशोक को कहा, मैडम याद करती है। वह अपनी फाइलें लेकर सहमा सा कमरे में दाखिल हुआ। सविता फाइलें देखने लगी। सभी नोट गलत थे। एक फाइल पटकी, दूसरी पटकी और इस प्रकार एक-एक करके उसने सभी फाइलें पटक दीं। उसने अशोक के विक्षिप्त चेहरे को देखा और कुछ मुस्काई, "यह क्या है ?"

अशोक चुप था। "यही काम करते हो ? पढ़ो, क्या-क्या लिखा है ? उठाओ, ये सभी फाइलें रवि नन्दा को दो। वह ठीक करके मेरे पास लाएगा।"

अशोक चला गया और उसने उसी दिन एक सप्ताह की छुट्टी की अर्जी दे दी। सविता ने रवि की मार्फत आई फाइलों पर दस्तखत किए और पूछा, "अशोक को क्या हो गया है ?" "मैडम क्या कहूं, क्षमा करें, आपके व्यवहार से वह इतना विक्षिप्त है कि ठीक काम भी गलत

कर रहा है और कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वह तब्दीली करवा ले या त्यागपत्र दे दे।"

सविता ने रवि की बात का कोई उत्तर न दिया। वह अपनी फाइलें लेकर चला गया तो बाद में वह बड़ी देर तक सोचती रही कि अशोक से अब क्या व्यवहार करे। उसने एक बार अपना मूल्य डलवाने के लिए उल्टी-सीधी शर्तें रखीं और मुझे व मेरे मां-बाप को एक मुश्किल में डाल दिया। हमारा अपमान किया और समाज में हमें ज़लील करने की कोशिश की। मेरे पिता जोकि एक दफ्तर में एक सुपरिटेंडेन्ट थे, जिन्हें कि रिश्वत से सदा घृणा रही, इसकी मांगें कैसे पूरी कर सकते थे। आखिर उनकी चार और लड़कियां भी तो थीं। फिर अशोक का मुझ पर एहसान भी है। अगर मेरी शादी हो जाती तो मैं इस क्लर्क की पत्नी होती और मेरी जगह कोई और कलैक्टर होता तो वह भी इससे इसी प्रकार व्यवहार करता। ...खैर, अब इसे सब कुछ बता देना चाहिए ताकि इसे अपने किए पर पुर्नविचार करने और पश्चात्ताप करने का मौका मिले।

अशोक एक सप्ताह की छुट्टी व्यतीत करने के बाद दफ्तर पहुंचा तो उसके चेहरे पर वही उदासी और भय छाया हुआ था। सभी साथियों ने उससे कुशल क्षेम पूछा और वह काम-काज करने में जुट गया। तभी जमादार ने अशोक से कहा, "मैडम याद कर रही है।"

अशोक धीरे-धीरे कमरे में पहुंचा। सविता ने मुस्कराहट से उसका स्वागत किया और बैठने का संकेत किया। वह बैठ गया। कुछ क्षण चुप्पी छाई रही। तब सविता ने उससे तबियत का हाल पूछा। उसने बताया कि अब ठीक हूं। सविता ने तब बात-चीत को आगे बढ़ाते हुए पूछा, "मेरे विचार में आप विवाहित हैं। आपके बच्चे भी होंगे।"

"जी हां, मेरे चार बच्चे हैं। तीन लड़कियां और एक लड़का।"

"पत्नी अच्छी है ?"

"जी, हां।"

"कहां शादी की है ?"

"जी, लुधियाना में...।"

"दहेज में क्या कुछ मिला था ?"

"जी काफी कुछ मिला था।"

"मोटर सायकल भी ?"

अशोक अवाक् रह गया। कुछ उत्तर नहीं दे सका।

"मेरा ख्याल है जरूर मिला होगा। तुम्हारी मांगों में एक वह भी था।" सविता ने उसका चेहरा पढ़ने की कोशिश की। अब अशोक का सिर उठ नहीं पा रहा था। तब सविता ने बात स्पष्ट करते हुए कहा, "पहचानते हो, मैं वही सविता हूं। जिसके पिता से तुमने शादी के लिए कई शर्तें और मांगें की थीं।"

अशोक का सिर शर्म से झुक गया। आंखों में आंसू थे। उसने हाथ जोड़कर माफी मांगी, लेकिन सविता ने कहा, तुम इस कोटि के अकेले नवयुवक नहीं हो, बल्कि आज का

हर पढ़ा लिखा नवयुवक शादी में अपनी कीमत डलवाता है, लेकिन अंततः उसका हश्र तुमसे पृथक नहीं होता। जाओ, आराम से काम करो और अपने परिवार की देख-भाल करो। कल तुम्हें भी वे मुश्किलें आएंगी, जोकि हर लड़की के मां-बाप को आती हैं।''

अशोक के जाने के बाद सविता बड़ी देर तक कुछ सोचती रही और बाद में उसकी अंगुलियां टैलिफोन पर घूमीं और तब दूसरी ओर गिरीश था, जिसे शाम के लिए सविता ने बंगले में आने का निमन्त्रण दिया।

अगले रोज शिमला में आम चर्चा थी कि सविता ने सरकार से आवेदन किया है कि वह शादी करना चाहती है। सरकार ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली है और अब वह किसी विभाग की निर्देशिका बन कर जा रही है और उसका भावी पति था, उसका अपना सहपाठी गिरीश।



बातें

बातें
केवल बातें होती हैं
बातें नहीं
जीने के लिए
कुछ श्रौर भी चाहिये ।

बांध बातों के पुल
तुम किसी को
पार नहीं ले जा सकते
किसी
मरुस्थल में पानी
पतझर में फल
नहीं खिला सकते ।

श्रब तुम्हारे
वे बासे बोल
हुई-बीती घटनाएं
श्रनेकशः दोहराए हुए वचन
मुरझाए सूर्यमुखी की तरह
गंधहीन हैं
लगते हैं सबके सब
सूखाग्रस्त खेत,
शून्य में
भटक रहे हों
जैसे प्रेत ।

लोगे तुम भी

● जितेन्द्र उधमपुरी

मन के
इस सारे शहर ने
स्वीकार लिया है मौन
भावों की गलियां हो गईं वीरान
श्रौर
श्राशाश्रों के चौराहों पर सभी
उगल रहे हैं
सलीब पर टंगी
एक ठहरी चुप्पी ।

परत दर परत घुटन
ढेर सारी चुभन, श्रभेद्य श्रंधकार
दूर तक फैला उदासियों का कुहर
श्रौर कभी न चुकने वाली
एक लम्बी शाम ।

कब से भोग रहा हूं
मैं यह सब चुप-चाप ।
लोगे तुम भी इनका
कोई भाग / कोई खण्ड / कोई श्रंश
बांटो गे / दुख-दर्द मेरे ।
हैं ये सब केवल
कहने भर की बातें
फूल छोड़ कोई कभी
चुना करता नहीं कांटे ।

कुहरिल आकाश पर बिखरा अतीत और तलाक

● कु० अनिल गोयल

नर-नारी जीवन रथ के दो पहिए हैं। दोनों के परस्पर सहयोग से उनका निजी, परिवार तथा समाज का कल्याण एवं विकास होता है। शास्त्रवेत्ताओं ने दोनों के इस गठ-बंधन के लिए विवाह संस्था की रचना की परन्तु, पाश्चात्य नारी जागरण आंदोलन तथा आधुनिक युगीन मूल्य-संक्रमण की स्थिति ने विवाह-संस्था के सामने प्रश्नचिह्न लगा कर तलाक प्रथा को जन्म दिया है; जिसके अनुसार पति और पत्नी कानूनन वैवाहिक संबंधों का विच्छेद ले सकते हैं। तलाक-स्थिति को समझाते हुए कमलेश्वर कहते हैं— "पति और पत्नी के संबंधों में आमूल परिवर्तन हुआ है। नारी अब कानूनी तरीके से भी स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त करने जा रही है। इन दोनों कारणों ने पति-पत्नी संबंधों को बहुत ज्यादा बदना है जिससे विवाह की परम्परागत संस्था के सामने प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाता है।"

स्वातन्त्र्य-युग के कहानीकारों ने तलाक का चित्रण— तलाक स्थिति के उभरने, तलाक होने तथा तलाक हो जाने के बाद के परिप्रेक्ष्य में किया है— "आज की नयी कथा-चेतना नारी पुरुष के आपसी संबंधों के संक्रमण और संकट को ही चित्रित नहीं करती, या उन्हें अलग-अलग स्थितियों में ही नहीं पकड़ती— उन्हें एक दूसरे से अलग होने और रहने की स्थिति में जांच लेना चाहती है और पाती है कि मूल्यों का यह चतुर्दिक रूंधाव वहां कितना सांघातिक और निर्णायक है।"

तलाक का मूल कारण है आपसी मतभेद की स्थिति। समझौतावादी जीवनपद्धति पर जीने वाले पति-पत्नी जहां पारिवारिक सुखों की बढ़ोतरी में सहायक होते हैं वहीं समझौता

कर सकने में असमर्थ पति-पत्नी प्राप्य सुखों को भी तबाह कर डालते हैं। गैरसमझौतावादी नियति के परिणामस्वरूप तलाक की स्थिति का चित्रांकण करने का सफल प्रयास किया है राजेन्द्र यादव ने अपनी कहानी **भविष्य के आसपास मंडराता अतीत** में। परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में संलग्न पत्नी पति की तरफ से सहयोग न पाकर अपनी असमर्थता प्रकट करते हुये कहती है— "मैं क्या इतना भी नहीं समझती थी कि विवाहित जीवन का दूसरा नाम एडजस्टमेंट है। लेकिन पांच साल मैंने, सिर्फ मैंने ही तो एडजस्टमेंट किया है-- खाना, रहना, आदतें · तुम्हारे लिए क्या नहीं बदला है? लेकिन तुम तुम? कब तक कोई एडजस्टमेंट ही करता चला जायेगा अकेला?" परन्तु पति की दृष्टि में वह समझौता नहीं करती, कुछ शर्तों के आधार पर संबंध निभाती है— "नहीं तुम एडजस्टमेंट नहीं करती, सिर्फ अपनी शर्तें रखती हो वही करती रही हो।" इस पर भन्नाती हुई वह पति से अपना ही संबंध नहीं तोड़ती अपनी बच्ची का भी तोड़ डालती है— "तब ठीक है, तुम अपनी उस हूर की परी के साथ रहो, मुझसे और मेरी बेटी से तुम्हें कोई मतलब नहीं है। मैं इसे खुद पढ़ा लिखा लूंगी और तुमसे अच्छा पाल लूंगी। ·· बिना बाप के हजारों बच्चे पलते हैं···।"

निःसन्देह यह समझौता पति एवं पत्नी दोनों की तरफ से जरूरी है अन्यथा एक की बौद्धिकता दूसरे की भावुकता को चुनौती दे देती है क्योंकि विरोध की स्थितियां पैदा होती हैं घरेलू मोर्चे पर— जहां स्त्री पुरुष की अर्द्धइकाइयों के परिपूर्ण इकाइयों में संतरित होने के रास्ते में हमारे संस्कार आड़े आते हैं।" अपनी सांस्कारिक परवशता तथा भावुकता के कारण **खामोशी को पीते हुए** (निरूपमा सेवती) की नायिका पति की बौद्धिक आवश्यकता को परखने में असफल ही नहीं होती बल्कि तलाक के फलस्वरूप पत्नीत्व और मातृत्व दोनों से वंचित हो जाती है।

पति-पत्नी के संबंधों में अजनबीपन एवं संदेह भी तलाक का कारण माना गया है। अजनबीपन के कारण दोनों एक-दूसरे को समझ नहीं पाते, न ही समझौता कर पाते हैं फलतः अलग होने का निर्णय कर लेते हैं। मोहन राकेश की प्रतीकात्मक कहानी **गुंझल** में नायिका न तो कुछ सोच पाती है, न सोचना चाहती है क्योंकि निरन्तर सोचने से हर बात उलझ जाती है और उसकी अनिर्णयात्क स्थिति को हठ मानकर पति यह कहता हुआ अलग होने का निर्णय कर लेता है— "इसका मतलब है कि हम लोगों का संबंध आज से और इसी समय से समाप्त हो जाता है?" ऐसे स्वेच्छापूर्वक तलाक लेने वाले पति-पत्नी तलाक को कोई बड़ी बात नहीं मानते अतः सामाजिक प्रतिरोध का उत्तर बड़े स्वाभाविक ढंग से देते हैं— "दुनियां में बहुत से पति पत्नियों की आपस में नहीं पटती बस नहीं पटती; क्योंकि वे एक-दूसरे के लिए नहीं बने होते।"

विवाहपूर्व तथा विवाहोत्तर प्रेम भी पति-पत्नी के मध्य तनाव की स्थिति पैदा कर देता है और यदि उसके साथ औरत का अहं जुड़ जाये तो वह और भी सांघातिक हो उठता है।

राजेन्द्र यादव की **टूटना** कहानी नारी के इसी अहं एवं विवाहोत्तर प्रेम की अभिव्यक्ति है। किशोर की पुरुषोचित भावनाओं के साथ जब लीना समझौता नहीं कर पाती तो अलग हो जाती है— "देखो किशोर आज से— बल्कि इसी क्षण से हम लोग साथ नहीं रहेंगे। मैं भी सोच ही रही थी कि अब तुमसे बात कर ही ली जाये। न तुम अन्धे हो, न बहरे। तुम सिर्फ इन्फीरियॉरिटी काम्पलेक्स के मारे हुए हो इसलिए तुम्हें मेरी हर बात वह नहीं लगती जो होती है। उसके पीछे तुम्हें और-और बातें दिखती हैं।" इसी संदर्भ में अंकित है **एक और जिन्दगी** (मोहन राकेश) जहां नायिका वीना स्वाभिमान से भरी थी जिसके कारण वह प्रकाश से निभा नहीं पायी और शादी के कुछ माह बाद ही अलग रहने लगी। अन्ततः तलाक लेकर बच्चे—पलाश—के साथ अलग रह कर जिन्दगी की विभीषिकाओं से जूझने लगी।

मात्र सेक्स अथवा कामसंबंधों के आधार पर पति-पत्नी संबंधों की सार्थकता स्वीकारने वाले गृहस्थ जीवन में तलाक की सिम्तें अपेक्षाकृत जल्दी ही उभरती हैं क्योंकि प्रेम एक भावुक अनुभव है जिसके अतिरेक में व्यक्ति अनावश्यक संबंध जोड़ता है परन्तु जीवन की अर्थजन्य परिस्थितियां इस संबंध की न्यूनताएं उजागर करती हैं और सेक्स का रोमांच शिथिल पड़ने लगता है परिणामतः पति-पत्नी के पास संबंध विच्छेद के अतिरिक्त कोई रास्ता शेष नहीं रह जाता। काम संबंधों के कारण जिन कहानियों में तलाक की स्थिति उभरी है उनमें वल्लभ सिद्धार्थ की **खुला हुआ दरवाजा**, दीप्ति खंडेलवाल की **संधिपत्र** और पृथ्वीराज मोंगा की **सुरंग से होते हुए** कहानियों की चर्चा की जा सकती है। **खुला हुआ दरवाजा** में निनी और समीर के अलगाव का कारण है सेक्स संबंधों को विवाह संबंधों का 'पास' मानना अतः छटपटाती हुई निनी कहती है— "असम्भव । आई कान्ट टालरेट हिम। वह मुझे पत्नी नहीं सिर्फ औरत का शरीर समझता है। वन मोस्ट असेंशल कमोडिटी। अगर उसे मुझसे कोई लगाव हो सकता है तो सिर्फ इसलिए कि मैं उसके लिए एक जरूरत हूं। ही इज ए ब्रूट।" इसी तरह 'सुरंग से होते हुए' की नीरा हरबंस जैसे पति से तलाक ले लेती है क्योंकि वह कामुक व्यक्ति है जिसकी हर पिपासा की पूर्ति का अन्त बेडरूम में होता है और नीरा अपने अस्तित्व को बिस्तर की सिलवट से कुछ ऊपर की चीज़ मानती है। लेकिन 'संधिपत्र' का रोहित सोमा के जिस अंगप्रदर्शन पर रीझ कर प्रेमविवाह करता है बाद में सोमा के उसी अंगप्रदर्शन पर प्रतिबंध लगाने शुरू करता है। परिणामस्वरूप सोमा असहिष्णु होकर अलग रहने का निर्णय कर लेती है।

आज इस भौतिकतावादी युग में सर्वगुण-सम्पन्न अर्थात् आदर्श पति की सेवा में रत रहने की मान्यता बदल चुकी है। किन्हीं परिस्थितियों में यह देखा गया है कि नारी पति को कुव्यसनी देखकर स्वयं भी कुमार्ग अपना लेती है फलस्वरूप तलाक की नौबत आ जाती है। भीष्म साहनी की कहानी **'रास्ता'** में इसी विषय को उकेरा गया है। गोविन्दा से मालकिन कहती है— "मैं क्यों यहां पड़ी-पड़ी गलती रहूं ? वह कर सकता है तो मैं भी कर सकती हूं। उसे मेरी परवाह नहीं तो मैं ही क्यों उसकी परवाह करूं ?' लेकिन **'कई कुहरे'**

(सुरेश सिन्हा) की नायिका कुव्यसनी पति से होड़ तो नहीं लेती किन्तु तलाकपत्र को स्वीकार कर लेती है। महीपसिंह की कहानी 'लोग' में भी नायिका कुव्यसनी पति से अलग हो जाती है और नौकरी करके जीवनयापन करती है।

यह अहंवादी तथा शंकालु वृत्ति की स्त्रियां घर में रहकर बेघर होने की अनुभूति सह नहीं पातीं, पति के साथ रह कर भी अकेलेपन से मुक्त नहीं हो पातीं तो अलग होने का विकल्प चुन लेती हैं, परन्तु अलग होना भी अपने में उन्हें कोई सुख नहीं दे पाता है। इसी परिप्रेक्ष्य में अवलोकनीय है उषा प्रियम्वदा की कहानी 'नींद'। कहानी की नायिका स्वेच्छा से पति से विलग होकर अकेली रहने लगती है परन्तु अंधेरी रातों में अकेले होने पर अपना अकेलापन उसे खलने लगता है और वह एक उपयुक्त साथी की तलाश में जुट जाती है-- "मैं पूर्णतया स्वस्थ हूं। मैं केवल साथ ढूंढती हूं, कम्पेनियनशिप·········।" और इस कम्पेनियनशिप के अभाव में कभी कभार वह आत्महत्या तक को आतुर हो उठती है। प्रदीप पंत कृत 'जोड़ा' इसी कोटी की कहानी है जहां मिसेज माथुर अकेलेपन के कारण आत्महत्या करना चाहती हैं।

कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि अलग होते समय विकल्प के रूप में उनके सामने कोई अन्य व्यक्ति रहता है। अतः दोनों शान्त स्वभाव से अलग होने का निर्णय कर लेते हैं। राजेन्द्र यादव विरचित **'छोटे-छोटे ताजमहल'** में तनाव उभर आने पर राका और देव स्वेच्छा से अलग होने का निर्णय ले लेते हैं ताकि एक-दूसरे के लिए बाधा बनने के बजाय वे अपने सम्बन्धों में कभी मित्र रूप में मिल सकने की गुँजाइश बनाए रख सकें। अत: अंतिम संध्या ताजमहल में व्यतीत करते हुए देव कहता है— "मैंने और राका ने निश्चय किया है कि अब हम लोगों को अलग ही हो जाना चाहिए········दोनों तरफ से शायद सहने की हद हो गई है············नसों का यह तनाव मुझे या उसे पागल बना दे, या कोई ऐसी वैसी बेहूदगी करने पर मजबूर करे इससे अच्छा है कि दोनों अलग ही रहें। चाहे तो वह किसी के साथ सैटिल हो जाये। वह मुनमुन को रखना चाहती है, रखे। वैसे जब भी वह उसे बाधक लगे निसंकोच मेरे पास भेज दे।

'सुरंग से होते हुए' में नीरा हरबंस से तलाक लेकर सुधीर से शादी कर लेती है। उसे लगता है— 'सुधीर ने उसे बहुत जगह थामा है वह उसकी बहुत आभारी है। पिछले दो सालों से उसका कितना ख्याल रखा है। बस अब, कुछ ही दिनों की बात है। निःसंदेह सुधीर सा ही कोई उसके ख्यालों में, उसके सपनों में बसा हुआ था।" इसी प्रकार **'सुनहरे देवदार'** (निरूपमा सेवनी) में रश्मि अर्थ-तनाव के कारण पति से अलग हो जाती है— "तुम फिर मुझे गलत समझ रहे हो, ठीक है हम अलग हुए। मैं अभाव में नहीं जी सकती।" और इस अर्थ-अभाव की पूर्ति वह पुनः शादी के बंधन में बंध कर करती है।

एक अन्य व्यक्ति एवं सुखद गृहस्थी की चाह में मन्नू भंडारी की **'बन्द दराजों का साथ'** की नायिका मंजरी एकमात्र सन्देह के कारण विपिन से तलाक ले लेती है क्योंकि उसका मत है—"इस युग में आशा करना ही मूर्खता है, क्योंकि आज जिन्दगी का हर पहलु,

हर स्थिति और हर संबंध एक संभावनाहीन समस्या हो कर ही आता है जिसे सुलझाया नहीं जा सकता है, जिनसे आदमी निरन्तर बिखरता और टूटता चलता है। अब एक ही आशा उसके हृदय में शेष थी—"जिस सहज ढंग से वह सारी स्थिति उभरी है उसी तरह नयी जिन्दगी का रास्ता भी खोज लेगी।" अतः मंजरी दिलीप के साथ पुनः विवाह करके गृहस्थ जीवन जीने लगती है।

निःसंदेह पति-पत्नी अलग हो कर नयी घर-गृहस्थी बसा लेते हैं किन्तु शीघ्र ही वह महसूस करते हैं कि घर में कुछ कमी है क्योंकि जो चैन वह चाहते हैं वह यहां नहीं दिखाई देता, लेकिन इसका कारण घर या उस नये व्यक्ति का दोष नहीं प्रत्युत उनके अपने ही संस्कार होते हैं। पहली बार वह जिस उत्साह से घर बसाते हैं—चाह कर भी उसे भुला नहीं पाते, न चाहने पर भी अतीत एक छाया की भांति उनके जीवन पर मंडराता रहता है। महीप सिंह की कहानी **'घिराव'** में सुम्मी अमर से अलग हो कर ओमी के साथ घर बसा कर रह रही है लेकिन अमर की उपस्थिति का आभास उसे बेचैन कर देता है—"मैं अमर से डरती नहीं·········शायद डरती भी होऊं। डर इस बात का नहीं है कि वह मुझे नुकसान पहुँचाएगा। मैं जानती हूं वह बुज़दिल किस्म का आदमी है। पर पता नहीं क्या बात है। अपने आस-पास उसकी उपस्थिति का आभास मुझे बेचैन कर देता है·········?"

तलाकेत्तर गृहस्थ जीवन की इसी दुष्परिणति को निरूपित किया है मन्नू भंडारी ने **'बन्द दराजों का साथ'** कहानी में। मंजरी दिलीप के साथ स्वेच्छा से विवाह करती है लेकिन उस दिन वह दिलीप से भी ऊबने लगती है जिस दिन दिलीप असित की फीस देते समय कुढ़ कर बोलता है—"यह स्कूल काफी मंहगा है। इस महीने यों भी काफी खर्च हो गया है।" अतः मंजरी सोचती है— "असित दिलीप का बच्चा होता तब भी वह यह बात कह सकता था। पर असित दिलीप का बच्चा नहीं था और क्योंकि संदर्भ दूसरा था इसलिए बात का अर्थ भी दूसरा हो गया।"। अब प्रथम बार मंजरी को अपनी नौकरी छोड़ने का अफसोस हुआ और परिणामस्वरूप मंजरी और दिलीप के मध्य भी विभाजन की रेखा खिंच गयी—"बाहर से कहीं कुछ नहीं था··· ··· न बातचीत में, न व्यवहार में, पर अनजाने और अनचाहे ही भीतर से जैसे मन बंट गये थे। जिन्दगी बंट गयी थी। इस बार हालांकि प्रसंग और स्थितियां दूसरी थीं, पर बंटने की पीड़ा वही थी।"

इसी तरह **'सुरंग से होते हुए'** की नीरा सुधीर से ऊबने लगती है और **'सुनहरे देवदार'** की रश्मि भी नये पति से ऊब जाती है और पति की अनुपस्थिति में पुराने पति से कुछ दिन ठहरने के लिए अनुनय करती है—"पर तुम ज्यादा दिन यहां रहते तो अच्छा था। क्योंकि वह तो काम की वजह से पन्द्रह बीस दिन बाद ही आयेंगे। काफी समय था।"

हिन्दी कहानी के केवल नारी-पात्र ही नहीं पुरुष-पात्र भी इस तलाकेत्तर यंत्रणा के कारण संतप्त रहते हैं। 'एक और ज़िन्दगी' में प्रकाश निर्मला से शादी करके भी बीना के साहचर्य को भुला नहीं पाता और रामदरश मिश्र की **'एक भटकती हुई मुलाकात'** में

सुधांशु तथा अंजना संदेह के कारण अलग हो जाते हैं, सुधांशु पुनः सीमा के साथ विवाह के बंधन में बंध जाता है लेकिन सुखपूर्वक जी नहीं पाता। अंजना बच्चे मुनमुन को लेकर दुःखी रहती है. उधर सुधांशु सीमा के विफर जाने के डर से अंजना से बात भी नहीं कर पाता।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि तलाक संबंधों का जिक्र कहानीकारों ने महानगरीय एवं नगरीय परिवेश में रह कर ही किया है और इसका मूल कारण पति-पत्नी की पारस्परिक ऊब, तनाव, बौद्धिक स्वच्छन्दता, अत्यधिक कामुकता तथा विवाहपूर्व एवं विवाहोत्तर प्रेम संबंध हैं।



एक उद्धरण-युग्म की भूमिका से—

'मेरी निश्चित धारणा है कि युग्म-रूप ही सृष्टि की वास्तविक इकाई है फिर चाहे उसे बौद्ध तान्त्रिकों की तरह माना जाये, चाहे शैव-शाक्तों की तरह 'युगान्वित'। स्त्री-पुरुष दोनों को अन्योन्याश्रिता आश्लिष्ट एवं एकात्म स्थिति की मान्यता प्रत्येक दशा में अपरिहार्य है। सत्य को देखा भिन्न दृष्टियों से जाता है, पर सत्य होता एक ही है।

—'युग्म,' पृ. 21

मृत्यु से पहले : मृत्यु के बाद

● अग्निशेखर

एक गोंद-भीगा शब्द बन आ बैठा
सभी की जीभ पर अब···

देहांत तक
हरेक आंख के
चौराहे का अंतरीप था मैं !

आप जानते हैं
उस दिन
जब मरा था मैं···
कितनी आंखों में
सचमुच टूटी थीं
कप-प्लेटें
केतलियां
और बहुत सारा सामान कांच का ?

बहुत सी आंखों में—
समुद्र तट पर
धूप सेंकने
चले आए थे नयन-भीगे मगरमच्छ,
पानी के सांप,
केकड़े और मछलियां—
विविध-रंग ।

उस दिन का मेरा वह क्लांत शरीर
भूल आया था कहीं
अपने महत्त्वपूर्ण अंग···
दफ्तर की फाइलों में
कमज़ोर आंखें,
पांचों अंगुलियां मेज़ पर चिपकी रह गई थीं,
स्वार्थी सड़कों पर भटक गए थे
कटे-फटे जूते···!

तब
अचानक हो उठी थी अनावृत एक स्वप्निका
बीते हुए कल की बन्दूक
मुस्कराई थी
और मुझे
काल के अंधे कुएं में
धकेल दिया गया था···

उस वक्त तक
मैं
एक अनाम पागल था ।



समर्पण

● चन्द्र उदय शर्मा

सांझ का रुपहला आकाश
धीर-गंभीर पुरवैया
शांत-ठहरा जल
और मैं !

एक मैं
दूसरी मेरी छाया
एक के आगे दूसरा
दूसरे के पीछे पहला
एक पूरे युद्ध की तैयारी—
अपनी समग्र छाया को
अपने चरणों तले
रौंद सकने के लिए।

एक अन्तहीन यात्रा
एक अनाम पीड़ा—
थकान
मेरे कन्धों से होती हुई
सूर्य को दबोच लेने को आतुर।

विश्राम !
भूमि पर जमाया गया आसन
झुका हुआ शीष
पांव-तले संभल कर बैठी
समर्पिता···मेरी छाया
निश्चल !

❖❖❖❖❖❖

परिचय

चन्द्रकान्त जोशी : व्यक्तित्व और कृतित्व

● सत्यपाल शास्त्री

जम्मू-कश्मीर के जाने-माने कवियों में चन्द्रकान्त जोशी अन्यतम हैं। वह पुरानी और नवीन पीढ़ी के कवियों में समान-रूप से लोकप्रिय हैं। इनकी शृङ्गार-रस प्रधान रचनाओं में आज भी वही लहलहाते यौवन का जादुई उन्माद है जो आज से पच्चीस वर्ष पहले था और उनकी राष्ट्रवादी कविता में वही उद्दाम यौवन का जोश है जो एक युवा कवि की कविता में होता है और उसके साथ ही उनकी प्रगतिवादी कविता में सामाजिक विषमताओं के प्रति वही तीव्र आक्रोश, क्रान्ति और करुणा का स्वर तथा क्रोध भरी हुंकार है जो एक क्रान्ति दृष्टा कवि की कविता में होती है तथा उनकी छायावादी कविता में वही मधुर भाव व्यञ्जना, पदलालित्य प्रतीकात्मकता तथा अप्रस्तुत विधान है जो एक विचारशील कवि की कविता में होता है।

कवि ज़ोशी का जन्म जम्मू के एक मध्यवित्तीय परिवार में २८-२-१९२८ को हुआ था। इनके पिता जी स्कूल-अध्यापक थे। स्वाभाविक था कि जोशी के कवि हृदय पर बचपन से ही घरेलु परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता। इन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत में एम० ए०, साहित्यरत्न, प्रभाकर तथा बी० एड० तक शिक्षा प्राप्त की। इन्होंने बी० ए० तक जम्मू के प्रिन्स ऑफ वेल्स कालेज (अब गान्धी मेमोरियल साईंस कालेज) में शिक्षा प्राप्त की। बी० ए० पास करने के बाद यह कलकत्ता जाकर सहायक सुरक्षा अधिकारी (Assistant security officer) के रूप में विलियम आर्डिनेन्स डिपो में काम करते रहे। १९५० ई० में अपने पिता के आकस्मिक निधन के कारण इन्होंने वहां से नौकरी छोड़ दी और जम्मू लौट आए।

१९५० ई० में श्रो० एफ० डी० में गेट अधिकारी नियुक्त हो गए। १९५७ ई० तक इसी विभाग में काम करते रहे। इसी बीच इन्होंने दोनों एम० ए० की परीक्षाएं उत्तीर्ण कर लीं। उन्हीं दिनों इन्होंने इस नौकरी से त्याग पत्र देकर शिक्षा विभाग में आने का निर्णय कर लिया, क्योंकि यह नौकरी इनकी साहित्यिक अभिरुचि के अनुकूल नहीं थी। परिणामत: इनकी अध्यापक के रूप में पहली नियुक्ति हाई स्कूल दुमाना में सन् १९५७ में हुई। इसके बाद इन्होंने १९६४ ई० तक क्रमश: हाई स्कूल अख़नूर, ज्योड़ियां तथा रणवीर हायर सैकेण्डरी स्कूल जम्मू में अध्यापन कार्य किया। १९६४ ई० में यह राजकीय महाविद्यालय भद्रवाह में प्राध्यापक नियुक्त हुए। वहां से दो महीने के बाद इनका स्थानांतरण राजकीय कालेज अनन्तनाग हो गया और वहां से १९७२ में कठुआ भेज दिए गए।

जोशी जी को १९४३ ई० से ही कविता लिखने का शौक है। उस समय यह इण्टर-मीडियेट में पढ़ा करते थे।

उन्हीं दिनों जब प्रो० पी० एन० पुष्प की अध्यक्षता में प्रिन्स ऑफ वेल्स कालेज में हिन्दी साहित्य परिषद् की स्थापना हुई तो जोशी उसकी गोष्ठियों में सक्रिय भाग लेने लगे और अपनी नित्य नई कविताएं भी सुनाने लगे। एक बार इनके कुछ साथियों ने ईर्ष्यावश इन पर कटाक्ष किया कि जोशी जी मौलिक कविता लिखने के स्थान पर दूसरों की नक़ल करते हैं। इससे जोशी का कवि झकझोर उठा। फलस्वरूप इन्होंने एक कविता लिखी जिसमें कक्षा की सभी छात्राओं के नाम संजोए गए। कविता की प्रारम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

"दीप दीप कुलदीप **जलाकार,**
कुलदीपों को सुधा **पिलाकर,**
बैठे थे जन अपने घर में,
कमला **पूजन था घर घर में।"**

इन पंक्तियों में रेखाङ्कित नाम लड़कियों के हैं।

भले ही जोशी जी की यह कविता उच्च कोटि की नहीं है, परन्तु इससे कालेज में जोशी जी की लोकप्रियता अवश्य बढ़ गई। इसके बाद इन्होंने कालेज की हिन्दी परिषद् की साहित्यिक गोष्ठियों में यह कविता कई बार पढ़ी। इन गोष्ठियों में छात्राएं भी हुआ करती थीं, जो कविता सुनकर मुस्कराने के साथ भीतर ही भीतर कुढ़ती भी थीं। अन्ततः इस बारे में कालेज के प्रिन्सिपल के पास शिकायत भी पहुंची, परन्तु कुछ अध्यापकों ने बीच-बचाव करके मामला रफा-दफा करवा दिया था।

जोशी जी की छात्रावस्था की कविताओं में राष्ट्रीयता और रोमान्स अधिक है। उन्हीं दिनों बच्चन जी का काव्य 'बंगाल का अकाल' प्रकाशित हुआ था। उसे पढ़कर जोशी जी के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। परिणामत: इन्होंने भी इसी विषय पर एक कविता लिख डाली, जिसकी प्रारम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

"भारत भिखमङ्गों की दुनिया।"

यह कविता कालेज की पत्रिका 'तवी' तथा दैनिक 'विश्व-बन्धु' (लाहौर से प्रकाशित होने वाला) के रविवासरीय अङ्क में प्रकाशित हुई थी। इसके अतिरिक्त कवि जोशी पर निराला, माखन लाल चतुर्वेदी, मैथिली शरण गुप्त तथा उर्दू के कवि मिर्जा ग़ालिब, इकबाल आदि की रचनाओं का समय-समय पर प्रभाव पड़ता गया।

सन् १९४७ ई० में जब सारे देश में प्रान्तीय भाषाओं के विकास के लिए आन्दोलन चले तो जम्मू में भी इसकी लहर पहुंची। परिणामतः यहां 'हिन्दी साहित्य मण्डल' की स्थापना हुई।

श्री बंसीलाल सूरी, रामनाथ शास्त्री, शांता भारती, शकुन्तला सेठ आदि इसके मुख्य कार्यकर्ता थे। इस संस्था के माध्यम से जम्मू में हिन्दी के प्रचार के लिए स्वस्थ वातावरण तैयार हुआ। परन्तु कुछ समयोपरान्त जम्मू में डोगरी संस्था की स्थापना हो जाने से हिन्दी के प्रचार को इसलिए कुछ धक्का लगा कि मंडल के बहुत से सक्रिय कार्यकर्ता डोगरी संस्था में सम्मिलित हो गए। हां जोशी जी, बंसीलाल सूरी तथा शान्ता भारती आदि हिन्दी के प्रचार-कार्य में यथावत् लगे रहे। उन्हीं दिनों कुमारी शान्ता जी ने हिन्दी पत्रिका **'भारती'** का प्रकाशन आरम्भ किया था। जब जोशी जी 'हिन्दी साहित्य मण्डल' के प्रधान मनोनीत हुए तो इन्होंने हिन्दी के प्रचार कार्य को और अधिक गतिशीलता दी। उन दिनों कवि जोशी ने एक क्रान्तिकारी कविता लिखी थी जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

"तुम गीत बनो मैं गाऊँ
मैं रोकर मन बहला लेता
बोलो मां, कब भूख मिटेगी
मधुपान नहीं विषपान करो।"

कवि की उन दिनों की कविताएं **भारती, उषा** (जो शकुन्तला सेठ के सम्पादकत्व में निकलती थी) **विश्वबन्धु** (लाहौर), **चान्द** (उर्दू), **रणवीर** (उर्दू) आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। जोशी जी का पहला लेख 'गीता में साम्यवाद' रणवीर (हिन्दी) के विशेषाङ्क में छपा था, जिसे सभी ने सराहा था। बंगाल के अकाल पर भी इनका एक लेख छपा था। जोशी जी की कुछ कविताएं जम्मू से श्री कुन्दन लाल जी के सम्पादन में निकलने वाले **'रत्न'** तथा विजय सुमन के सम्पादन में निकलने वाले **गुलाब** में भी छपा करती थीं।

जोशी जी की कविताओं में मुख्य रूप से ये प्रवृत्तियां हैं : राष्ट्रवाद, प्रगतिवाद, छायावाद, रोमांस। यह मुख्य रूप से छन्दोबद्ध रचना ही करते हैं जिनमें गीत, कविता, दोहे और गज़लें हैं। इनकी १९५९ ई० तक लिखी कविताओं का एक संग्रह उर्दू लिपि में छप चुका है। शेष लगभग ४०० कविताएं अभी तक किसी संग्रह का रूप नहीं ले सकी हैं परन्तु इनमें से अधिकांश यत्र-तत्र कवि गोष्ठियों में पढ़ी गई हैं और स्थानीय तथा देश की अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

जोशी जी की रोमांस-प्रधान कविताओं में सहज अभिव्यक्ति, स्वच्छन्द-प्रवाह, शालीनता, स्वतः प्रवाह तथा आत्मानुभूति का स्वर है। जैसे :–

एक घटना घटी प्यार के नाम की
हृदय ने कहा मोल मेरा क्यों ?

●

सजल नयन बोले हमें दोष मत दो,
फूल के बाण से शूल घायल हुआ,
चाल ऐसी चली राह में काम की।

एक गज़ल का अंश भी द्रष्टव्य है :–

आंखें डूबें मन खो जाए,
सुध बिसरे तन डोले है।
जाने किस जंगल का पंछी,
छत पर मेरे बोले है।

इनकी राष्ट्रवादी कविताओं में देश के सुन्दर भविष्य के लिए सुनहरे स्वप्न हैं और अपने महान् अतीत के प्रति विशेष आदर की अभिव्यक्ति है :–

"आ करें निर्माण, नूतन भव्य भारत के भवन का।
प्राण वर्षों से पवन आज़ाद बहता है यहां पर।
प्राण वर्षों से मनुज मधुगीत गाता है यहां पर।"

इनकी प्रगतिवादी कविताओं में समाज के पिछड़े वर्ग के प्रति गहरी समवेदना, सहानुभूति और विशेष कसक है तथा उनकी समस्याओं के प्रति कवि के हृदय में एक विशेष प्रकार का आक्रोश तथा जागरूकता है परन्तु उनके समाधान के लिए कवि के पास विशेष कुछ नहीं है, हां निराशा का स्वर अवश्य है। इन तथ्यों की पुष्टि नीचे दिए उदाहरणों से हो जाएगी :–

आ साथी, मैं तुझे बताऊं
मजदूरों का मेला।

●

"पूज तू पत्थर का भगवान,
मुझे तो प्यारा है इन्सान।
बनाकर मन्दिर एक विशाल,
जपा करते हैं मन के राम।"

कवि की छायावादी कविताओं में वही सहज तरलता, प्रतीकात्मकता तथा अप्रस्तुत विधान है जो हिन्दी के गण्य-मान्य कवियों की कविताओं में पाया जाता है। इनकी नीचे लिखी कविता पर डॉ० रामकुमार वर्मा की कविता 'ये तारे गजरों वाले' का प्रभाव परिलक्षित होता है :–

"एक तारा टूटता है,
दूसरा है जगमगाता ।

हर निशा को नीलनभ में,
तारकों का गान होता।"

इनकी अन्य छायावादी कविताओं में वैसा ही निराशा का स्वर है जैसा उनकी प्रगतिवादी कविताओं में देखा जाता है :-

"गीत का अवसान होता ।
कौन जाने फिर निशा को,
कौन मिलता कौन गाता ?"

इस कवितांश में निशा-नायिका को अपने नायक (चांद) के प्रति आकर्षण तो है परन्तु कवि की ओर से उसके प्रति अनभिज्ञता प्रगट करना कवि की निराशावादिता का द्योतक है।

स्वभाव से मधुर तथा रोमानी जोशी शतरञ्ज के माने हुए खिलाड़ी हैं। कभी-कभी इनके चेहरे पर निराशा की काली छाया स्पष्ट प्रतीत होने लगती है, जो गाहे-बगाहे इनकी कविता को भी कुण्ठित कर देती है। क्योंकि जोशी जी को बचपन से ही जीवन की उलझी समस्याओं से दो-चार होना पड़ा है, इसीलिए उनकी कविता में कहीं-कहीं निराशावाद आ गया है तो भी हिन्दी जगत् को तो कवि जोशी से बड़ी आशाएं हैं।



इन्कार के स्वर

● डॉ० ग्रोम प्रकाश गुप्त

मैंने
ग्राज फिर
ग्रासमान पर
लहू के/चकत्ते देखे हैं,
तूफ़ान की ताल पर
लहराये हैं—
रेशमी ग्रलकों के बादल;
धरती ने
ग्राज फिर
वंध्या कहलाने से
इन्कार किया है।

किताबों के वे
सारे पन्ने
जिनमें
बच्चों ने सहेजे थे
मोर पंख
फड़फड़ा कर जी उठे हैं,
काग़ज़ी कश्तियां
फ़ौलादी झील में तैरी हैं,

रेतीले घरौंदों के
ग्रांगन में उगी
गुलाबी पंखड़ियों ने
उधारी गंध
ग्रोढ़ने से
इंकार किया है।

ग्रंधेरे के क्रिस्टल पर
उतरी है
ग्राज
ग्रंजली भर
रौशनी की ग्रावाज़
नयी सहर को
सीढ़ियों की दिशा
किसने दिखाई है
कि
लहूलुहान धूप
दरारों में उतर ग्राई है,
फागुनी हवाग्रों ने/ग्राज फिर
रुकने से

इन्कार किया है।

मैंने आज फिर
आसमान पर
लहू के चकत्ते देखे हैं।
ताबूतों में जकड़े कंकाल
खेतों में निकल आए हैं
पकी बालियों ने
आज
उत्तर नहीं
प्रश्न चाहे हैं,
लाल सलाखों से जले
गुलमोहर ने
हम सबको पुकारा है
विद्रोही बहारों को
अब किसका
सहारा है ?
आज फिर
गीतों ने
बिकने से
इन्कार किया है
शब्दों के माथे पर
तेवर
अनदेखे हैं

मैंने
आज फिर
आसमान पर
लहू के
चकत्ते देखे हैं।



कहानी

क्या ये पागल हैं ?

● राज भल्ला

"मैं किसी पर बोझ नहीं हूं। पढ़ी लिखी हूं, ट्रेन्ड हूं, सिलाई में मेरी मास्टरी है— बस खुदा के नाम पर मुझे इनसे छुड़ा दो।" नज़ीरा गिड़गिड़ाती आवाज़ में ये सब कह गई। कुछ ही कदम आगे बढ़ने पर लिनन की नसवारी बुशर्ट पहने एक गोरे नौजवान से मुलाकात हुई। मुझे देखते ही बोला— मैट्रिक पास हूं— दो सौ रुपये घर से चुराये और घर वालों ने पागल करार देकर इधर ठूंस दिया। डेढ़ हजार रुपये अब तक मेरी बीमारी पर खर्च कर चुके हैं— "आया न मजा घर वालों को।" अपने सफेद दान्त बाहर निकाल कर ठहाका लगाते हुए मेरी तरफ देखता हुआ वह नौजवान अपने निश्चित स्थान पर जा पहुंचा है।

जिस मतलब से इधर आया हूं वह बीच में ही न रह जाए, इसलिए इन सबसे छिप कर भाग निकलना चाहा पर इसी बीच मेरे कुर्त्ते को पीछे से पकड़ कर गहरे केसरी रंग की चुनरी और अच्छा खासा आधुनिक फैशन किए एक युवती मेरे पास आकर खड़ी हो गई। मैं एकदम असमञ्जस में पड़ गया पर वह बिना झिझक कहने लगी— "देखो जी, ये लोग हमारे फैशन से चिढ़ते हैं— हम तो पफ भी बनाएंगी और लिपस्टिक भी लगाएंगी।"

"हां हां लगाओ", अपना पीछा छुड़ाने की गर्ज़ से मैंने कहा। कुछ आगे बढ़ा कि वही युवती पागलखाने के कर्मचारियों की ओर देखती हुई— 'पंजाबी' में गाने लगी—

"सड़देआं नूं साडां गे
नित्त कड़ाई चाढ़ां गे।"

······ओहो ! कितने बोझिल वातावरण में मैं अब आ निकला हूं। हो सकता है चाह कर भी कुछ न कर सकूं। सम्भवतः जिस मरीज़ को देखने आया हूं उसे देखने की इजाजत ही न मिले ! मैं देख रहा हूं कि पागलखाने वालों की नज़र अपने मरीजों की बनिस्बत मुझ पर अधिक है। अजीब माहौल देखकर सोचता हूं—क्या ये सब पागल हैं या बनाए गए हैं ? पागलखाना भी एक कारखाना है ? क्या ये गोलियां, इंजेक्शन या इलेक्ट्रिकशाक ही इन सबका सही निदान है ?

फिर पागलखाने की ऊंची दीवारें अपने में सभी प्रश्नों को समेटे, ज्यों की त्यों खड़ी, मुझे अपना उपहास उड़ाती महसूस होने लगीं। कहीं से भी कुछ उत्तर न पाकर उदास हूं और परेशान भी !!

डाक्टर से बात करना चाहता हूं, पर वह मुझे देखते ही कन्नी काट लेता है। हां कुछ कदम आगे बढ़ते हुए कहेगा जरूर कि भाई ! "इतमीनान रखिए आप का मरीज ठीक हो रहा है।" मैं शुक्रिया कह देता हूं। उसे क्या पता कि महज़ मैं अपने मरीज़ की खातिर इधर आता हूं या किसी और वजह से ! देखो तो उसी के कितने सारे मरीज़ मुझे घेरे खड़े हैं ! हालांकि मैं न तो कोई डॉक्टर हूं और न ही कम्पाउन्डर !! शायद उनका मेरी ओर रुझान इस घेराव का कारण हो !!! पर इस बुद्धिवादी युग में मेरे भावुक हृदय को जानने की फुर्सत किसे है ?

एक मरीज़ कड़ी समेत भाग निकलता है। मेरा रास्ता रोक कर सलामी देते कह रह है— "जरा हमारी भी सुन लेते तो क्या हर्ज था ?"

गेटकीपर पीछे भागा··· बेचारे को बेजाम समझ कर घसीट रहा है और वह इसी हालत में मेरी ओर नज़र फेर कर कह रहा है—

"खुदा करे हसीनों के मां बाप मर जाते
हम इसी बहाने उनके घर तो जाते"

अच्छा तो इश्क का मरीज़ पागलखाने भरती कर दिया है। बेशक इस वक्त वह मेरे पास नहीं तो भी उसका गलत, ठीक शे'र याद करके मुझे कभी हंसी आती तो कभी दया भी।

इस तरह कुछ कदम उसके साथ तो कुछ अकेले ही देते मैं अब चौराहे पर पहुंच गया हूं। पर पागलखाने वालों की चीखें, बेहूदा हंसी या कुछ ऐसी ही बेकार हरकतें मुझे दूर पार खड़े भी दिख रही हैं। हां एक बात है— इस चौराहे का शोरगुल मुझे मजबूर कर रहा है कि मैं सोचूं— क्या इन दीवारों से बाहर चलने वालें सभी सही हैं ? मेरी समझ तो कह रही है कि वे अनचाहे पागल हैं जिन्हें दुनियां के शेष पागलों से अलग कर दिया गया और पागलखाने बसा दिया। क्वालिटी में फर्क हो सकता है, वरना हैं सभी पागल।

कुछ सही मायनों में मरीज़ भी हैं पर सभी नहीं। मैं तो आज भी यह मान कर चल रहा हूं कि इनसे दुर्व्यवहार इन्हें पागल बना गया ! निरन्तर बढ़ता हुआ तनाव इनकी

दयनीय दशा का कारण है !! कुल मिला कर इन्हें पागलखाने नहीं खुशहालखाने रखने की जरूरत है। दवा से बेहत्तर इलाज इनका महौल बदलना है। याद करो न उस नसवारी बुर्शट वाले नौजवान को— भला क्या कह रहा था वह ?

अब रात होने लगी— मैं लम्बे डग भरते घर की तरफ मुड़ा हूं। सचमुच मुझ जैसे अपनी ही धुन में पागल को किसी का घर वाला नहीं बनना चाहिए। आधुनिक किशोरियां ऐसे तैसे को कम ही पसन्द करती हैं। सोचता हूं— क्या करूंगा, कहां [illegible] हूं दिन भर ! कोई मनोरंजन की जगह हो तो [illegible] ले चलूं, कोई गप्प-शप हो तो उसे भी सुनाऊं— ताकि घर से मेरी गैरहाज़री उसे अधिक शिकायत का मौका न दे। पर······पर ·····!!

आज सुबह मुझे उस पागलखाने में फिर जाना है। दरअसल मुझे उन सभी से कुछ लगाव सा हो गया है, जो मरीज़ की शक्ल में पड़े हम लोगों की सूरतें देखने तक को तरसते हैं। चाहता हूं इनकी इच्छानुसार कभी कोई सेवा करूं पर ड्यूटी पर तैनात कर्मचारी इनसे घिरा हुआ देखकर झट ही कहने लगते हैं— "साहब ! इनसे अधिक बातें मत करिए, ये साले बिगड़ जाएंगे।"

जानते हो बिगड़ने का मतलब ?

बिगड़ने का मतलब है— "अपने सही हकों की पहचान ! जीने की वे शर्तें जिनका अभाव इन्हें इधर ले आया !!" अगर यह गलत है तो बताओ वह मनोहर सिंह क्यों मेरे पीछे आ रहा है ? जानते हो वह क्या कह रहा है ? कह रहा है— "बाबू जी ! साबुन दिलवा दो न ! बड़े गन्दे हैं मेरे कपड़े। बू आ रही है— सचमुच किसी को पागल बना देने वाली बू !!

"तो क्या सरकार ने इधर साबुन का कोई इन्तजाम नहीं कर रखा ?"

"मिलता है— जब इन लोगों की मरज़ी होती है···।" बात अभी हो ही रही थी कि डॉक्टर मुझे कनखियों से देखता हुआ निकल गया। कितने साफ कपड़े, पर मुझे उनसे भी बू आ रही है— रिश्वतखोरी की, सीनाजोरी की।

× × ×

कल एक टिकिया सबको अपनी ओर से देकर इस पागलखाने की बू को खत्म कर दूंगा। मैंने अपना मंशा कुछ ऐसे बूदार मरीज़ों पर ज़ाहिर भी किया पर इतने में एक स्वस्थ युवती मेरे पास आकर बोली— "हमारे मैले कपड़े उजले मत करियो बाबू जी ! ये लोग चिढ़ जाएंगे।"

शायद वह और भी कुछ कहती पर-- 'अच्छा' कह कर मैंने उसकी हां में हां मिला दी और वह चुप हो गई।

फिर मैं पीछे मुड़ा ही था कि वही युवती हाथ जोड़कर मेरे पैरों पर गिर गई। मैंने झट से पांव पीछे सरकाते हुए यह जानना चाहा कि भला यह किस किस्म का मरीज़ है !

नर्स की ओर पांच का नोट सरकाते मैंने पूछ ही डाला— क्यों भई, जानती हो इसकी हिस्ट्री ?

"बाबू जी ! यह अमर सिंह इंजीनियर की पत्नी है। ऐय्याश होने से वह किसी और सूरत पर लट्टू हो गया और इसे पागल कह कर इधर धकेल दिया। तबसे उस कम्बख्त ने मुड़ कर इसकी शक्ल तक न देखी।"

हूं...। कितना मोहक धोखा है यह ! कितनी मासूम इन्तज़ार होगी उसकी जिसने फिर मुड़कर नहीं आना !! उफ ! छल, कपट की हद हो गई। इस दुनियां में हर आदमी एक दूसरे को पागल बन ना चाहता है !! खैर मुझे इन सबसे क्या लेना देना ! इस ताने बाने में जो बात मुझे परेशा कर रही है वह यह कि तमाम पागलों में से ये इने गिने पागल ही इस पागलखाने के हकदार हैं ?

उनका दोष केवल इतना है कि ये इंजीनियर अमरसिंह या ऐसे ही दूसरे किसी की तरह गुनाहों के मास्टर नहीं ? जिनके कारनामों से इन्सानियत शर्माती हो वे सब बाहर और जो इस सबका फल भोग रहे हों वे अन्दर ?

बस...बस...मुझे अब रुकना चाहिए। बहुत दूर आ गया हूं, भावुक जो ठहरा। अपना घर नज़दीक आते देख मैं भी कुछ कुछ पागल हुआ जा रहा हूं। सोचता हूं वह मेरे बारे में क्या सोचती होगी ! क्या सोच कर वह मेरी इतनी अधिक गैरहाजरी को माफ कर देती है ! या नीमपागल समझ उसने मुझसे किनाराकशी की तो नहीं सोच रखी ? राम ही जाने मुझे मेरे व्यवहार की क्या सज़ा मिलेगी !!

खैर मेरा ध्यान तो इन गिड़गिड़ाती, पैरों पड़ती, कुरते को पीछे से पकड़ कर रुकवा लेने वाले उन लोगों की उस बस्ती की ओर है जिसे सभ्य-संसार में पागलखाना बोलते हैं।

यथारुचि उनका कुछ भी न कर पाने से खीझ सी महसूस कर रहा हूं। जिस क्वालिटी की वहां जरूरत है शायद मुझ में वह नहीं है, इसलिए अपने इन लोगों से अलग-थलग हूं। वैसे कहिए— दुनिया में कौन पागल नहीं है ?

देखो तो सही वह दूर पागलखाने के बाहिरी अहाते में सिगरेट का धुंआ छोड़ते वह नसवारी वुशर्ट वाला नौजवान मेरे पास आ गया है।

"आ गए बाबू जी!" युवक बोला—(फिर अपने आप) सांइन्स स्टूडेन्ट रहा हूं बाबू जी ! दो सौ रुपये घर से चुराये और घर वालों ने इधर धकेल दिया। डेढ़ हज़ार रुपये बीमारी पर खर्च कर चुके हैं। अब आया न मज़ा घर वालों को पागलखाने भेजने का ? फिर डॉक्टर की ओर देखकर बोला— यह पढ़ा लिखा नौकर मेरी सेवा कर रहा है।" बस, इतना कह कर वह खूब हंसा।

उसका इतना खुलकर हंसना मनुष्य की उन तमाम गलत सामाजिक व्यवस्थाओं का उपहास सा महसूस हुआ जिन व्यवस्थाओं में मनुष्यता के नाम पर दरअसल मनुष्यता खत्म होती है। सोचता हूं जिन्हें मिलकर छल, कपट से परहेज करने को जी चाहे, सही जीवन जीने की प्रेरणा मिले क्या वे सचमुच पागल हैं ?

उखड़ा हुआ प्रत्यावर्तन

● महाराजकृष्ण शाह

नभ में बादल तैर रहे थे। चारों ओर धुआंदार वातावरण, जैसे एक दावाग्नि के पश्चात सब कुछ अधजला रह गया हो और भीगे भीगे सब कुछ में से बुना हुआ धुंआ बादलों से होड़ लेना चाहता हो। लोग परिचितों से भी कतरा कर भाग रहे थे। शांति और धुंध ने सारी वादी घेर रखी थी। मैं बाहर बरामदे पर एकटक सड़क की चहल पहल पर वीरानियों के बढ़ते अक्स गिन रहा था। मैं अनमना सा टहलने लगा। वह बगैर दूध के नमक वाली कश्मीरी चाय लेकर सामने खड़ी थी। मैंने कवल हाथ में लेते एक क्षण चाय देखी और प्रतिक्रिया में उसकी आंखें झुकीं। मैं चाय फेंक चुका था, वह रसोई देखने में व्यस्त।

कुछ नहीं हुआ, सब कुछ सामान्य है। हो भी क्या सकता है? बर्फ की प्रतीक्षा में हज़ारों चिंतित, उत्साहित और सामान्य चेहरे·· सामान्य लगने वाले।

वह फिर आई— "मुन्ने को 'फ्लू' हुआ है, आज नमक और शक्कर भी खत्म है··· दूध वाला···"

"ठीक है तुम जाओ।"

वह गई किन्तु शब्द रह गये। उनकी अनुगूंज से मेरी प्रतीक्षा ऊब गई और कल्पना जाग उठी······मानो आज उसने हां करदी ·····आह ! सारे घर का नक्शा बदल दूंगा और सचमुच सारे घर का नक्शा ही दिन प्रतिदिन बदलता जा रहा था। ···"वह मुन्ने से परेशान थी या मुझ से" ···"मुझे उसकी परेशानी से मतलब?" 'हां' तो मैं क्या सोच रहा था? ···हां याद आया···कल की वह धूप सुहावनी···नहीं वह धूप नहीं···तो··

यादों पर यादें, तहों पर तह जमती बर्फ एक साथ पिघल के पानी बनती है, पर यादों पर जमी याद किस धूप की प्रतीक्षा में पानी होना चाहती है—? पानी का कोई रंग नहीं, मज़ा नहीं, अर्थहीन फिर भी आवश्यक। "शाम के लिए कुछ सब्ज़ी वगैरा ले क्यों नहीं आते" वह रसोई से अनुनासिक बोल उठी। मेरा बायां हाथ जेबें टटोलने लगा, वहां से जवाब मिला 'खाली!'

मैंने उन सब कोनों की, स्थानों की तलाशी आरम्भ की जिनकी इससे पहले न जाने कितनी बार पूछताछ कर आया था। फिर भी खाली जेबें, खाली हाथों कदमों ने सड़क पर ला खड़ा किया। बाज़ार उसी प्रकार भरपूर— लोग, भीड़ और फिर भी नायाबी, खालीपन और सब कुछ बेढंगा।

यह श्रीनगर है। मेरे कुछ जान-पहचान के लोग भी हैं। इस घाटी के छोटे महानगर में दो एक परिचित घर होना बहुत कुछ है, पर कई सालों से कुछ कारणवश उनसे सम्पर्क टूट चुका है। हम गांव में रहते थे तो वह हमारे मित्र, सगे सम्बन्धी सब कुछ थे। हम दूर थे तो ऐसा सब कुछ था। शहर में सब सामान्य है। वह हमारे लिए और हम उनके लिए मेहमान नहीं। शुरू शुरू में एक दूसरे के हां आना जाना लगा रहता, पर न जाने अचानक कहां क्या हुआ सब कुछ अचानक ठप हुआ। मिलते भी हैं तो औपचारिकता के नाते। पुल के मध्य में कुहरे में लिपटी एक परिचित सी आकृति मेरे निकट से खिसक रही थी मैंने देखा और हठात मुख से निकला—

"शीला···"

—"कैसे हो?" उसने विवश हो पूछा।

—"मैं जो भूल रहा था वह स्मरण दिलाने वाली को क्या उत्तर दूं···" मैं सोचने लगा।

वह पूछने लगी, "तुम वापस गांव ही क्यों नहीं जाते, वहां कम से कम घर अपना है किराये के पैसे ही बचते।"

"मुर्दे को कब्र से गरज़ है ज़मीन कोई भी हो" यह मैं कहना चाहता था पर नज़रें जेहलम के सातवें पुल से होती हुई पानी के बवंडर देखने लगीं। कितना मटमैला है इस नदी का पानी फिर भी पीना पड़ता है।

"मैंने पापा से कल फिर कहा था, उनका कहना है दो एक रोज़ में तुम्हारा काम हो जायेगा, राजा तुम्हें इतना परेशान नहीं होना चाहिए, यह तो सब दिनों का फेर है।"

"हां ऐसा ही है, मैं गांव जा रहा हूं यह सुनते ही तू पागलों की भांति रो उठती थी आज मेरे होने का अहसास भी सहन नहीं कर सकी" अगर मेरी जुबान में कोई शक्ति शेष होती तो इतना भर अवश्य कहता पर···।

"मुन्ना कैसा है और उसकी······" मैं प्रतीक्षा कर रहा था कि उसके चेहरे पर जो कुछ लिखा था वह उभर आयेगा। मैंने पढ़ने का प्रयत्न किया, पर वह सब विषयांतर था। कोई ऐसा शब्द, पंक्ति या वाक्य पढ़ सकूं जो मैंने लिखा था। वहां एक ही शब्द उभर कर विलीन होता 'अतीत'।

"मां उसकी"— मुझे जैसे प्यास सी लगी हो गले में कुछ अटक सा गया और मैं मुश्किल से खांस सका। वह आदतन बोल उठी, "देर हो रही है।" मैंने आंखें सब्ज़ी वाली दुकान की ओर फेर लीं और कदम भी अनुकूल ही उठा रहा था हाथ कुछ मुलायम सा महसूस कर चौंक उठे 'प्रशाद' है मैं खीर भवानी से आ रही हूं भाभी को भी···"

भाभी शब्द कानों में पड़ते ही एक धक्का सा लगा। मैंने हाथ ज़बरदस्ती छुड़ाया। हाथों में क्या आया है, यह मैंने नहीं देखा पर नदी ने जाना कि वह जिस नगर में से गुज़र रही है वहां एक और नगर बस चुका है, जो बहुत नीचे दब गया है और तहों पर जमती तह ···कौन पाट सका है ? हाथों से कुछ छूटकर नदी की तह पर तैर रहा था— डूब रहा था— डूब गया है।

—"चलो थोड़ी देर ममी से मिल आओ, कहती थीं सूरत ही भूल गई हूं, तुम तो बिलकुल ही बदल गये।" अभी तक जिसे किनारा समझा था वह तिनका भी बह गया। हाथ कुछ खोज रहे थे। वह दौड़ रही थी, मैं केवल चल सकता था। जब उसकी गति से गति मिला कर न चल सका तो पिछड़ना पड़ा ही।

सामने के० ऐम० डी० ए० का बस स्टेंड, एक ओर से 'अनन्तनाग' दूसरे ओर से 'तुलामोला' 'पाम्पुर' और स्थान स्थान को जाने वाले यात्रियों को पुकारे जा रहा था। इस पुकार की छैनी ने मस्तिष्क के सूने कोने पर चोटें करनी आरम्भ की। वहां उसी अनुपात से कुछ आवाजें उगने लगीं······

"राजा···राजा···नहीं नहीं आज नहीं"—मैंने टिकिट को दबा कर, नोट जेब में रखते हुए शीला को तन्मय देखना आरम्भ किया था।

"तुम इतने जिद्दी हो···मेरी इतनी सी बात भी नहीं मान सकते···अगर तुम आज न रुके तो···नहीं जाना है आज तुम्हें गांव···" उसके नेत्र सजल होने लगे, मैंने स्थिति और स्थान का ध्यान करके मुस्काने का निष्फल प्रयत्न किया— चाहा कि इस फेरे को टाल दूं परन्तु···उसकी वह अबोध दृष्टि जो निरन्तर निर्दोष आमन्त्रण का अभिप्राय लिये मुझे बाध्य कर रही थी— "देखो शील मैं तो कुछ ही दिनों में··· खत में आज के दिन जाना ही आवश्यक···और फिर···।"

—नहीं···अवश्य जाओ किन्तु आज···अतीत को लौट आने दो, उसी घर की छत के नीचे कालेज जीवन के तीन वर्ष···मैं जानती हूं···आज का गया···न जाने····ओह····राजा···· सम्भव है तब फिर मैं भी तुम्हारे साथ ·····

मैंने चाहा उसे सब कुछ बता दूं ··किन्तु···मुझसे अधिक मेरे हाथ में आई टिकिट ने कह दिया।

वह पछतावे से कह रही थी, "आज की रात रहे होते ·" मैं बस में सीट खोज़ कर बैठ गया। वह खिड़की के पास आकर हलके होंठ हिला कर कुछ कह गई—शायद निर्दयी।

बस से उतरते ही लगा कि गांव मेरे आने पर मातम मना रहा है। चारों ओर घोर

नितब्धता। वृक्षों के जिन पत्तों को हरा छोड़ आया था वह लाल पीले ढेरों के ढेर, पेड़ों घाटियों और पगडंडियों पर कुचले विद्रोहियों से सिसकियां भर रहे थे। पेड़ आवरणमुक्त शिशिर के आलिंगन को बाहें उठाये आकाश ताक रहे थे। नदी सूख कर रास्ता हो गई थी। मैंने चिल्ला चिल्ला कर पूछना चाहा, यह सब कैसे हुआ ? सहसा मेरे मन में खरोंचें लगने लगीं। आह ! मैं भूल कर गया, मैं यह कहां भूला रहा। वापस चला जाऊं ··हां इसी दम। किन्तु हाथ घर के दरवाज़े पर दस्तक दे रहे थे, भीतर से एक परिचित सी आवाज़ आई 'ज़ोर दो, खुला है।'

"यह किस जन्म की सज़ा भुगत रही हूं। हाय ! औरों के बेटों को देखो, खाते खिलाते ही नहीं थकते। न जाने किसने क्या कर दिया मेरे लाल को···उस कलमुहीं की आंखें फूटें···"

—मां···मैं बिस्तर पर से अपना पूरा ज़ोर लगा के चिल्ला उठा··और बेतहाशा आंसुओं की झड़ी बहने लगी। दौरे तेज़ पड़ने लगे— डाक्टर और नर्सें··अनावश्यक भीड़ ···ओह !

जिला अस्पताल का संकीर्ण कमरा। सफेद दीवारों पर पड़ी उसांसों की सिलवटें··· लोग कहते हैं मुझे दिल की बीमारी है, किन्तु मेरा तो दिन प्रतिदिन का जीवन है यह।

मैंने जहां भी कोई काम करना चाहा मुझे लगता मैं ज़बरदस्ती कर रहा हूं। ऐसा प्रतीत होने लगता कि जहां मैं बैठता हूं वहीं ज़मीन धंस जाती है और मैं मुश्किल से जान बचा कर निकल भागता हूं।

मैंने मां से विनीत स्वर में कहा—

"मां मुझे एक बार वहां जाने दो, मैं ठीक हो जाऊंगा।"

मां एक नज़र बहू को और मुझे देखकर खामोश रही।

मैंने धीमे से द्वार खोला। पहले इस घर में जो बिजली सी लपक कर मेरे स्वागत को निकलती थी वह कोने में पड़ी स्वेटर बुन रही थी···पहले से अधिक स्वस्थ, उतनी ही सुन्दर किन्तु गम्भीर। मैंने अपने आने की सूचना खांसकर दी। उसने देखा और पुनः स्वेटर में मगन रही। यह क्या, तुम मुझे पहचानती नहीं ? तब फिर······

मैंने कहना चाहा 'मैं' आया हूं···तुम उठकर हंगामा क्यों नहीं करतीं। सबसे पागलों की भांति क्यों नहीं कहतीं कि···

मैं किसी अपराधी सा उसके निकट आकर बोला, "आंटी कहां हैं···?"

उसने रसोई की ओर इशारा किया। मैं उस ओर देख भर सका और फिर खोजने लगा।

—क्या मैं गलत जगह आया हूं···शीला तुम क्यों नहीं पूछतीं कि मैं इतने दिनों कहां रहा ? कैसा रहा ?···

"चाय बनाऊं" वह पूछ रही थी !

"धत ! इतने अन्तराल का मौन तोड़ा भी तो चाय की प्याली की माज़रत ने।"

—नहीं, मैंने पीने की इच्छा रखते भी कह दिया···अब मैं यहां एक पल भी नहीं रह सकता। मुझे जाना चाहिए मैं देख रहा था दीवारों का रंग, खिड़कियों पर टंगे पर्दे, कमरे की साज-सज्जा कहे जा रही थी, तुम कौन हो ? हम तुम्हें नहीं जानते, क्यों भटके देहाती—शहर में इतने मन्दिर सराय होते हमें परेशान करने क्यों आये···? शर्म भी नहीं आती।

मैंने न जाने क्यों अनसुना कर दिया, बैग कंधे से उतारकर नये नये सोफे से मित्रता जोड़नी चाही। रसोई से आहट हुई, ''ओहो राजा'' आंटी ने जैसे सहसा देखकर कहा——कब आये ? खाना तो खाया होगा ? कुछ रोज़ ठहरने का इरादा है या अभी जा रहे हो···?

''मैं सोफे में धंसा जा रहा था—— हां आंटी···वह आजकल बेकार ही···रहने तो आया था···काम कुछ नहीं मिलता—— वह देख लूंगा···वापस ही जाना पड़ेगा।''

''जानती हूं अब तो तुम बीवी वाले हो गये हो ना।''

——''तभी तो भैया अकेले ही आये, भाभी को साथ लाते शर्म आई होगी।''

——मुझे जैसे किसी ने तमाचा मारा। आज उसने मुझे अपने से अलग कर दिया। आंटी रसोई देखने में व्यस्त थी। मैंने साहस बटोर कर भरयि कंठ से 'शीला' को पुकारा।

उसे जैसे किसी ने सुई चुभो दी। वह दुगनी गति से स्वेटर बुनने लगी। मैंने उसी प्रकार फिर कहा, ''शीला मैं तुम्हारे पास आया हूं···केवल तुम्हारे कारण···इसी छत के नीचे···। वह उठकर चली गई और फिर मुझे कुछ याद नहीं···आंटी पुकार रही थी, राजा राजा जा कहां रहा है, चाय पीते जा······



सौगात

● अवतार कृष्ण राजदान

हां, यह वही पत्थर है जो न जाने कब से हमारे ठाकुरद्वारे में है। चपटा-सा और चौरस ! लगभग दो गज़ लम्बा ! शिवलिंग के दायें ओर लकड़ी के एक बड़े फ्रेम के सहारे टिका हुआ। इसके चारों ओर फूल पत्तियों का भव्य अलंकरण है जो अब कहीं कहीं घिस गया है। फिर भी ये फूल-पत्तियां बहुत सुन्दर हैं। पार्श्व में स्याही है। पास वाले भाग में तीन चित्रों का चित्रांकन किया हुआ है। पहला चित्र एक नन्हे से बालक का है जो गोद में सिमटा निश्चिन्त रूप से अपनी माता के स्तनों से दुग्धपान कर रहा है। दूसरे चित्र में एक स्त्री और पुरुष की आलिंगनबद्ध आकृतियां खुदी हुई हैं और अंतिम में किसी का आखिरी सफ़र--- चार-पांच आदमी एक शव को कपाट पर लिटाकर शमशान की ओर ले जा रहे हैं और उसके पीछे-पीछे कई शोकाकुल जन ! उनको देखकर ऐसा लग रहा है कि ये अपने किसी प्रिय को विदा कर रहे हैं।

यह चौरस पत्थर आज भी हमारे ठाकुरद्वारे में है। छोटी उम्र से आज तक मैं इसको यहीं देखता आया हूं। वैसे तब से आज तक यहां दीवारों की खूंटियों पर टंगे पुराने कलण्डरों के स्थान पर नये कलण्डर लगा दिये गये या ताक पर रखी मूर्तियों में कुछ विविध आकार-प्रकार की कलामय मूर्तियों की बढ़ोतरी की गयी, किन्तु यह चौरस-पत्थर अपने स्थान पर से कभी न हटाया गया। यह जहां था, अब भी वहीं है।

घर में सर्वाधिक ज़्यादा चहल-पहल इसी कमरे में रहती है। खासकर सुबह दस बजे तक। कोई आकर टीका लगाता है तो कोई अपने दोनों हाथों में कहीं से रंगारंग फूल लाकर

शिवलिंग पर चढ़ाता है। कोई सुबह से यहीं बैठकर गीता के आठों अध्याय समाप्त करता है। इस प्रकार यह ठाकुरद्वारा हमारे घर का मंदिर बन गया है। छुटपन से ही मैं यहां बड़े शौक से आता था। इसलिए नहीं कि यह ठाकुरद्वारा है और यहां भगवान की पूजा होती है। बल्कि इसलिए कि यहां रंगारंग मूर्तियां हैं--कलापूर्ण तथा आकर्षक। मूर्तियां क्या होती हैं तथा मूर्तिकला किसे कहते हैं—यह न मैं उस समय जान पाया था, न ही आज इसका ज्ञान है। अलबत्ता यह बात तो ज़रूर थी कि उस समय मैं इन मूर्तियों को बड़े ध्यान से देखता, खुश हो जाता तथा मचल उठता था। किन्तु ज्यों ही दिन बीत गये, मैं सोचने लगा कि यह चौरस पत्थर यहां किस लिए है? इस बड़े भारी-से पत्थर को यहां रखने की क्या तुक? इसने ठाकुरद्वारे की एक-तिहाई जगह घेर रखी है! यह न किसी देवी-देवता का आकार-रूप है, न ही यहां इसकी पूजा होती है। इस पर जिन चित्रों का रेखांकन किया हुआ है, उन्हें देखकर पूजा करने को दिल ही नहीं करता।

कितनी बार मेरे दिल में आया कि इस चौरस पत्थर को ठाकुरद्वारे से बाहर निकाल दूं। लेकिन इसको छूने में डर-सा लगा। न जाने ऐसा क्यों हो रहा था! शायद इसलिए, क्योंकि यह मेरे पिता जी को जान से भी प्यारा था।

एक दिन पूजा करने के बाद जब मेरे पिता जी ठाकुरद्वारे से बाहर आ गये तो मैंने उनको ज्योंही कहा--"पिता जी! इस चौरस पत्थर पर यह चित्रांकन किसने किया है? इस पर नज़र पड़ते ही दिल पर एक अजीब असर होता है।

मेरे पिता जी तबीयत से कुछ तेज़ थे उन्होंने गुस्से में कहा--क्यों?

"मैं सच कहता हूं पिता जी! इसको देख पूजा करने को दिल नहीं लगता जिस श्रद्धा के साथ पूजा करनी होती है, इस पर अंकित चित्रों को देखकर वह नहीं रहती"--मेरा उत्तर।

यह सुनकर पिता जी ने पहले मेरी तरफ देखा, फिर मां की ओर नज़र दौड़ायी। कहने लगा--"यह चौरस पत्थर मुझे अपने पिता की एकमात्र निशानी रह गयी जो वह अपने पीछे छोड़ गया है। यही तू यहां से हटाने के लिए कहता है?"

"लेकिन आवश्यकता भी क्या है इसके यहां रखने की। इस पर यह बेहूदा चित्रालंकरण मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता—मैं दरजवाब बोला।

यह सुनकर पिता जी को बहुत गुस्सा आया। उन्होंने मेरे गाल पर एक चपत जड़ मारी। कहने लगे—"अच्छा क्यों नहीं लगता?"

मैंने उन्हें कुछ नहीं कहा। केवल आंखें झुकाकर नीचे फर्श की ओर देखने लगा। मां ने मेरी तरफ देखा। वह थर थर कांप गयी। गुस्से में पिता जी का मुंह लाल-लाल हो गया मानो किसी ने उस पर लाल स्याही पोत दी। यह देखकर मैं भी कांप उठा। मैं धीरे-धीरे मां के बगल में बैठकर नीचे सिर झुकाये सोचने लगा कि आखिर मैंने ऐसी कौन-सी बात कही है कि पिता जी को इतना गुस्सा चढ़ गया। इस बीच पिता जी कमरे से बाहर चले आये तो

मां ने कहा—"तू क्यों बार-बार इनको यह चौरस पत्थर ठाकुरद्वारा से बाहर निकालने के लिए कहता है ?"

अबकी बार मैंने मां पर गुस्सा थूका। मैं गरज उठा—"हां, कहता हूं और बार-बार कहूंगा। मैं जो सच कहता हूं और ये एकदम गर्म हो जाते हैं। कहते हैं न, आजकल सच कहना पाप है और झूठ बोलना पुण्य।"

"तो फिर सच कहते ही क्यों ?"—मां ने कहा।

"सच नहीं कहता मां। लेकिन मुझसे रहा नहीं जाता। जरा आप ही बताइये मां, हमारे घर में क्या कोई ऐसी जगह नहीं रह गयी जहां पर यह चौरस पत्थर रखा जाता। ठाकुरद्वारा में इसके रखने की क्या आवश्यकता ! माना कि यह पत्थर है। मगर यह तो किसी देवी-देवता का आकार-रूप नहीं कि इसकी पूजा करनी है। ऐसा कुछ नहीं है इसमें। तिसपर भी देखो, क्या चित्रालंकरण किया हुआ है इस पर ! मां की गोद में बच्चा सिमटकर उसके स्तनों से दुग्धपान कर रहा है, स्त्री और पुरुष आलिंगनबद्ध रूप में और वह भी नंगे··· वाह ! वाह ! क्या इसी की पिता जी पूजा करते हैं ?"

यह सुनकर मां पसीनों से तरबतर हो गयी। वह कुछ न कह सकी। एकदम गूंगी-सी हो गयी। फिर उठी और कमरे से बाहर आ गयी। मैं यहां अकेला रह गया। कुछ क्षण पश्चात् मैंने आंखों के सामने इस पत्थर को लाया— स्याह ! चपटा-सा और चौरस ! चारों ओर फूल-पत्तियों से अलंकृत ! सामने तीन चित्रों का अंकन। पहले चित्र में एक नवजात शिशु मां की गोद में सिमटकर उसके स्तनों से मज़े में दुग्धपान कर रहा है। दूसरा चित्र स्त्री-पुरुष का है जो एकदम नंगे हैं तथा एक-दूसरे के बाहुपाश में बद्ध चुंभन ले रहे हैं तथा तीसरे या अंतिम चित्र में किसी की अर्थी ले जा रही है। इसके पीछे-पीछे लोगों का एक बड़ा कारवां है।



समय को सच ही पानी का बहता दरिया कहा गया है। इसके बहते हुए पानी को रोकना किसी के बस की बात नहीं। अभी आज और कभी कल। दिन-रात के इस मिलन से इस बात का पता ही नहीं चल सकता कि कब महीने गुज़र जाते हैं और कब सालों-साल बीत जाते। यह सिलसिला चलता है और हमेशा के लिए चलता रहेगा। इसी चलते सिल-सिला में एक दिन मेरी समझ में नहीं आया कि अचानक यह क्या हो गया। घर में सब सुन्न होकर रह गये। मैंने दायें-बायें देखा, घर में देखते-देखते हाहाकार मच गयी। सब चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगे। रोने का इतना शोर हो गया कि रात के उस गहन अंधकार में पक्षी भी पंख फड़फड़ाते हुए अपने घौंसलों से बाहर निकल आये। घर में मातम हो गया और यह मेरा पिता जी स्वर्गवास होने पर हो गया। इसमें सब सम्मिलित हो गये। सारा परिवार। यार-दोस्त—कुछ सच्चे, कुछ झूठे। घर में केवल एक फर्द की कमी हो गयी और वह अपने साथ घर की रौनक भी साथ ले गया।

मेरा पिता अधिक समय तक बीमार नहीं रहा। बीमार होने के मात्र छः घंटे बाद ही वह स्वर्गवास हो गया।

पिता का इस दुनिया से चले जाने के बाद मुझ पर मानो वज्र-सी गिर पड़ी। मैं यह जान ही न सका कि अब मेरा भविष्य क्या होगा। लेकिन समय का चलता दरिया आखिर सबका पथ-प्रदर्शक बन जाता है। आज मुझे ऐसा लग रहा है कि पिता जी का इस दुनिया से चले जाने से मेरे जीवन का एक नया अध्याय शुरु हो गया। एक नयी दुनिया! एक यहा वातावरण! मुझे सब कुछ नया-नया-सा दिखने लगा।

पिता के स्वर्गवास होने के बाद घर का प्रधान अब मैं ही बन गया। माता ने मुझे उनकी अलमारी की कुंजी दे दी। इसमें कुछ कपड़े तथा काग़ज़ात थे—मकान के काग़ज़ात। माल-संपति से संबंधित कुछ काग़ज़ात।

एक दिन मैंने अलमारी खोली—-अपने किसी मरे हुए प्रिय की चीज़ों को, जिन्हें उसने अपने हाथों सम्भालकर रखा हो, को देखकर आंखें गीली हो जाती हैं। कभी उन चीज़ों पर प्यार आता है कि उसकी थीं, कभी नफ़रत कि उसने दग़ा दे दी। अपने प्रिय की ये चीजें कितने प्यार से देखी जाती हैं मानो उसकी आत्मा इन्हीं में छिपी हुई हो। मुझे भी पिता जी की ये चीज़ें देखकर ऐसा ही महसूस हुआ। कौन सी चीज़ कब खरीदी थी, कहां खरीदी थी, कितने शौक से ली थी। यह कोट-पतलून कितने चाव से पहनता था! सिर पर यह रंगदार पगड़ी कब बांधता था! यह मकान कब बनाया था! इसके काग़ज़ात भी इसी अलमारी में थे और इसके साथ ही दो-चार ऐनक भी जो वह कभी-कभी लगाते थे।

इन सभी चीज़ों को देखकर भी मेरा ध्यान इन सबकी ओर नहीं गया। मैंने इसमें केवल मकान के काग़ज़ात निकाले। ये सब एक बड़ी फाइल में सलीके के साथ रखे हुए थे। फाइल खोलकर ज्योंही में इन काग़ज़ात को पढ़ने लगा तो पहले ही पृष्ट पर पिता जी ने मकान के सम्बन्ध में वसीयत की थी। कब? यह न मुझे पता है, न ही मेरी माता को। इसमें इन्होंने मकान को दो भागों में बांटा है। जो भाग मेरे नाम लिखा है, उसके अन्तर्गत ठाकुरद्वारा भी आता है। अंत में लिखा है कि मुझे पूरी आशा है कि मेरे स्वर्गवास होने के बाद मेरी की हुई वसीयत पर अमल होगा।

ठाकुरद्वारा—यह पढ़ते ही मैं चौंक-सा गया। आंखों के सामने एकदम वह पत्थर आया—स्याह, चपटा और चौरस! चारों ओर फूल-पत्तियों से अलंकृत! सामने तीन चित्रों का चित्रालंकरण!

पिछले बीस वर्षों मैं इस ठाकुरद्वारा में पूजा करने नहीं आता। इस चौरस पत्थर को देख कर मुझे यहां पूजा करने में मन की शान्ति नहीं मिलती यही कारण है कि मैं मंदिर में जा कर ही भगवान की पूजा करता।

कुछ दिन इसी तरह बीत गये। आखिर मैं एक दिन ठाकुरद्वार के अन्दर आया। वैसे तो मैं यहां यह चौरस पत्थर हटाने के लिए आया। तभी तो मुझे मन की शान्ति मिलती थी न।

तभी भगवान की पूजा-अर्चना करने में दिल लगता। मैं अपने-आपसे सोचने लगा कि उस पूजा करने का क्या सार जब दिल कहीं हो और दिमाग कहीं और। यह तो भगवान के साथ मखौल करने के बराबर होगा। हां, यदि यहां पूजा करूंगा तो पहले इस चौरस पत्थर को हटाना ही होगा।

मैं ठाकुरद्वारा के अन्दर आया। मेरी नज़रें एकदम इस चौरस पत्थर की ओर गयीं, लेकिन यह क्या! इस को जमीन पर इस तरह किसने लिटाया हैं? मैंने जीवन में पहली बार इसको इस तरह देखा। बहुत आश्चर्य हुआ मुझे। मैंने मृगशाला बिछाया तथा इस पर बैठ कर पूजा करने में तन्मय लगा। लेकिन मेरा ध्यान इस चौरस पत्थर की ओर था। यह उल्टा लेटा हुआ था। इसका पिछला भाग मुझे साफ दिख रहा था—काला स्याह।

मैंने पूजा खत्म की। फिर उठा और मृगशाला को लपेट कर अपने स्थान पर रखा। इसके बाद चौरस पत्थर की बारी आयी। मैंने इसको यहां से हटाने की सोच ली। इसके हटाने से तो यहां एक बला हट जायेगी! क्या ज़रूरत है इसकी इस कमरे में। मैंने इसकी ओर एक बार फिर ध्यान से देखा। फिर इसको दोनों हाथों से उठाया। लेकिन ·····लेकिन इसके नीचे यह पुर्ज़ा! यह क्या है। मैं एक दम चौंक-सा गया। मैंने इसको फिर अपने स्थान पर रखा और मेरे कांपते हाथ इस पुर्ज़ा की ओर बढ़ गये। मैंने इसको खोला। लिखा था—

प्यारे बेटे,

मेरा निधन होने के बाद यह चौरस पत्थर अपने स्थान पर से नहीं हटाना। इस कमरे में जो भी कलामय मूर्तियां हैं उन सब से बढ़ कर मुझे यह चौरस पत्थर अच्छा लगता है। मेरे बाद यह तुम्हारे हवाले है। इसकी सुरक्षा करना, पूजा करना। उस दिन तुमने पूछा था न कि इस पर जिन चित्रों का अंकन है, वह बेहूदा है। मगर मैं क्या कहता तुमको उस दिन, इन चित्रों का राज़ क्या है! तुम तो नन्हें बालक थे न। उस समय तुम कुछ नहीं जान सकते थे। मगर आज समय तुम्हें समझायेगा कि ये चित्र क्या हैं— ये चित्र जीवन के तीन दौर के स्पष्ट उदाहरण हैं। जीना, जवानी और बुढ़ापा तथा इसके साय ही जीवन का अंतिम सफर। मतलब जहां से मनुष्य आता है, वहीं उसको जाना है। यही तो जीवन की वास्तविकता है। इसी को पूजना है। जीने के बाद जो जीवन की इस वास्तविकता को समझ नहीं पाता, वह तो कुछ नहीं पा सकता।"

हां, यह तो वही पत्थर है—स्याह! चपटा-सा और चौरस! लकड़ी के बने एक बड़े फ्रेम के सहारे खड़ा किया हुआ। चारों ओर फूल-पत्तियों से अलंकृत। पास में तीन चित्रों का चित्रालंकरण! पहले चित्र में एक नन्हा-सा बालक मां को गोद में सिमटा निश्चिन्त रूप से उसके स्तनों से दुग्धपान कर रहा है। दूसरे चित्र में स्त्री और पुरुष की आलिंगनबद्ध आकृतियों का अंकन है तथा तीसरे और अंतिम चित्र में किसी का अंतिम सफ़र। आज यह चौरस पत्थर हमारे ठाकुरद्वारा में उसी तरह खड़ा है जिस तरह पहले था। यह एक सौगात है जो पिता जी अपने पीछे मेरे लिए छोड़ गये।

पुस्तकें और पुस्तकें

हिन्दी और कश्मीरी सन्त-काव्य तुलनात्मक अध्ययन/लेखिका : डॉ० कृष्णा रैणा
प्रकाशक : शारदा प्रकाशन महरौली, नई दिल्ली–३०/१९७७/पृष्ठ ३३६/मूल्य रुपये ५०/-

डॉ० कृष्णा रैणा कश्मीर से हिन्दी में पी० एच० डी० उपाधि प्राप्त करने वाली प्रथम विदुषी हैं और उनका यह शोध-निबन्ध अपने विषय का एक ही ग्रन्थ है। इसके लिए आपने चार दुर्लभ कश्मीरी पाण्डुलिपियों को सूक्ष्मता से परखा है। डॉ० विनयमोहन शर्मा के निर्देशन में आपने कुरुशेत्र विश्वविद्यालय से इस विषय पर उपाधि पाई। इस शोध-ग्रन्थ को स्व० डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० बच्चन सिंह आदि हिन्दी ससीक्षकों ने सराहा है। श्री जगजीवनराम जी ने इन्हें शुभाशंसा दी है। ऐसे ग्रन्थ को पढ़कर मुझ जैसे ज्ञान-जिज्ञासु को भी नई बातों का पता लगा। इसलिए मैं इस ज्ञान साधना की सहयात्रिणी का आभारी हूं।

हमारे देश में अनेक भाशाएं हैं और उनके भीतर जो एक अन्तरसूत्र सर्वव्याप्त है उसे पकड़ने के लिए अधिकाधिक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। इस ग्रन्थ में एक साथ कश्मीरी, उर्दू, पंजाबी तथा हिन्दी इन चार भाषाओं का चौदहवीं शती से १९वीं शती तक के सन्त-कवि और कवयित्रियों का गहरा विवेचन है। हिन्दी में यद्यपि मुख्यतः कबीर, नामदेव और नानक को आपने लिया है पर कश्मीरी में उन्हीं १४वीं, १५वीं शताब्दी में आपने लल्लद्यद, नुंदर्योश (नन्द ऋषि) को लिया है। सोलहवीं से उन्नीसवीं शती में हिन्दी में दादू, रज्जब, सुन्दरदास, मूलूकदास, दूलनदास, चरणदास, पलटू साहब को जहां आपने मुख्यतः लिया है, तुलना में उसी कालावधि के कश्मीरी सन्त रोपभवनि (रूप भवानी) मिर्ज़काक, परमानन्द, शमसफकीर, कृष्ण राजदान, छलकाक और रामानन्द को आपने अपने शोध का आधार बनाया है। सारा अध्ययन सुव्यवस्थित है प्रत्येक कवि की जीवनी, रचना, विचारधारा पर दार्शनिक प्रभाव आदि पर विवरणात्मक और गम्भीर समीक्षा दी गई है।

इसके साथ ही कश्मीरी प्राचीन मध्ययुगीन कविता से इतने उद्धरण देवनागरी में और किसी किताब में नहीं मिलेंगे। अनुवाद मूलसंहिता में और मूल पाद-टिप्पणियों के रूप में है। कश्मीर शैव दर्शन जिसे 'त्रिक' और 'स्पन्द' भी कहते हैं—इसका अलग-अलग विशिष्ट स्थान है। निर्गुण रहस्यवाद पर अद्वैत दर्शन और सूफीमत के साथ-साथ शैवदर्शन के प्रभाव का विवेचन इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

अन्तिम अध्याय में दर्शन और प्रेमतत्व के मधुर सम्मिश्रण की बात लिखते हुए डॉ० रैणा कहती हैं, संत-साहित्य में आध्यात्मिक प्रेम की महत्ता है। प्रायः सभी संतों ने अपने को प्रेमी और ब्रह्म को प्रियतम मानकर आध्यत्मिक प्रेम का वर्णन किया है (पृ० ३१६) संत नामदेव, कबीर, गुरूनानक दादू के उदाहरण देकर साथ में कश्मीरी निर्गुण सन्तों से उदाहरण देती हैं—"लल्लद्यय ज्यों-ज्यों ब्रह्म प्रियतम के समीप पहुंची और वहां के द्वार बन्द देखे, त्यों-त्यों उनमें मिलन की इच्छा तीव्र से तीव्रतर होती गई। मन के मिलन से उनकी काया भी पवित्र हो गई·····संत नुंदर्योश उसी को 'आशिक' मानतें हैं जो प्रेमाग्नि में स्वर्ण की भांति जलकर चमक उठे। ··· मिर्जकाक के अनुसार प्रेम की अवस्था में पाप और पुण्य पर विचार नहीं रहता वहां जीव ब्रह्म हो जाता है·····शमस फकीर के अनुसार प्रेमी मर कर भी अमर हो जाता है।" (पृ० ३१७-३१८)

डॉ० कृष्णा रैणा का यह प्रबन्ध इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी के शोध-क्षेत्र में भी विद्वतापूर्ण योगदान अहिन्दीभाषी छात्र-छात्राएं, प्राध्यापक, प्राध्यापिकाएं बड़े ही विशाल और स्थायी महत्व के पैमाने पर दे रही हैं। इो उचित रूप से प्रोत्साहन और पुरस्कार समीक्षकों को देना चाहिए। वैसे तो आजकल पी० एच० डी० बनने की जैसे बड़ी संस्था में बाढ़ आ गई है, पर उस भीड़ में एकाध ऐसा कार्य अलग से चमक उठता है उसकी प्रशंसा जितनी की जाये थोड़ी है। डॉ० कृष्णा रैणा में केवल एक आलोचक की जागरुकता ऐतिहासिक क्रमदृष्टि और दार्शनिक पैठ ही नहीं है, बल्कि एक सृजनशील लेखिका की संवेदनशील सहृदयता भी है इस कारण से वे हिन्दी और कश्मीरी सन्तों की बानी का अवगाहन कर सूक्ष्म दृष्टि से, गहरे तल से बड़े नायाब मोती और रत्न खोजकर इधर ला सकी हैं।

—डॉ० प्रभाकर माचवे



R. No. : 28871/76 Sheeraza Hindi (Quarterly) January-March '78



A Publication of

J&K Academy of Art, Culture & Languages, Jammu.